डी.सी.सी.टी. 01

कोटा खुला विश्वविद्यालय

डिप्लोमा कोर्स इन कल्चर एण्ड टूरिज्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

Outline of the Traditions and Culture of the People of India
"भारत के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा"

डी.सी.सी.टी - 1

Diploma Course in Culture and Tourism

1

डी.सी.सी.टी. -1/01

डिप्लोमा इन कल्चर एण्ड टूरिज्म

संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

पाठ्यक्रम-प्रथम

खण्ड(प्रथम)

1 "भारत के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा"

इकाई 1 संस्कृति : अवधारणा तथा विशिष्ट सम्बन्धात्मक प्रसंग	**5–16**
इकाई 2 विश्व संस्कृति के संदर्भ में भारतीय संस्कृति : अतीत एवं वर्तमान	**17–30**
इकाई 3 युग युगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति - एक रेखाचित्र	**31–49**
इकाई 4 भारत के मानव जातीय तथा भाषीय प्रतिरूप	**50–64**
इकाई 5 भारत की लोकप्रिय मान्यताएँ एवं संस्कृति	**65–79**
इकाई 6 भारतीय शैलचित्र : परम्परा एवं संस्कृति	**80–95**
इकाई 7 प्रागेतिहासिक संस्कृति (सिन्धु-सरस्वती सभ्यता)	**96–111**

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

(1) प्रो. बी.एस. शर्मा (अध्यक्ष)
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

(2) प्रो. एस.एन. दूबे
इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(3) प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लायब्रेरी,
तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली

(4) प्रो. दिलबाग सिंह
इतिहास विभाग,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

(5) प्रो. एम.वी. माथुर
पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

(6) डॉ. आर.के. सक्सैना
रिटायर्ड अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एम.एल. सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

(7) प्रो. जी.एन. शर्मा
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास व संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(8) पदमश्री (श्रीमती) लक्ष्मी कुमारी चूंडावत
प्रसिद्ध साहित्यकार एवं मनीषी,
बनीपार्क, जयपुर

(9) प्रो. एम.एस. जैन
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(10) डॉ. रीमा हूजा
एसोसियेट प्रोफेसर, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(11) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा (संयोजक)
अध्यक्ष,भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

(1) डॉ. अनाम जैतली
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(2) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
अध्यक्ष,भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(3) प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लायब्रेरी,
तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली

(4) डॉ. गिरिराज कुमार
कला संकाय, डी.ई.आई.,
दयाल बाग, आगरा

(5) डॉ. सुमना पांडे
समाज शास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय, दौसा

(6) श्री राजीव बरगोटी
इतिहास विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

संपादन व संशोधन

प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
अध्यक्ष,भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सामग्री निर्माण

प्रो. पी.के. शाहू
निदेशक, सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

इकाई 1 संस्कृति : अवधारणा तथा विशिष्ट सम्बन्धात्मक प्रसंग

इकाई संरचना

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 संस्कृति की अवधारणा

1.4 विशिष्ट सम्बन्धात्मक प्रसंग

- 1.4.1 संस्कृति व पर्यावरण
- 1.4.2 संस्कृति व समाज
- 1.4.3 संस्कृति व राष्ट्रवाद

1.5 सारांश

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.7 संदर्भ एवं टिप्पणियां

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है -

- संस्कृति की अवधारणा, प्रकृति व मूल प्रक्रिया का बोध;
- संस्कृति के विशिष्ट सम्बन्धों जैसे संस्कृति-पर्यावरण; संस्कृति-समाज, संस्कृति-राष्ट्रवाद की व्याख्या व विश्लेषण; तथा
- संस्कृत की सामाजिक संदर्भो में वियामक भूमिका का आभास।

1.2 प्रस्तावना

संस्कृति व्यक्ति की विविध कृतियों का ही दूसरा नाम है। अपने इस रूप में संस्कृति किसी एक अनुशासन के आधीन नहीं है। वह केवल कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहां अनेक अनुशासन परस्पर मिलें और अन्तरंग हो जाएं। संस्कृति, इससे भी अधिक एक ऐसा अन्तर्विषयक सृजनात्मक क्षेत्र है जहां विविध अनुशासन, अवधारणाएं कसौटियां तथा प्रक्रियाएं परस्पर मिल-जुल कर कुछ इस प्रकार रूपांतरित होती हैं कि उनके मौलिक क्षेत्रों व तटबंधों को नया प्रकाश व रूप-आकार प्राप्त होता है।[1] मौलिक क्षेत्र यद्‌यपि मिटते नहीं लेकिन उनका यौगिक (Compound) रूप कुछ नया अवश्य गढ़ देता है जो मौलिक क्षेत्रों के अभिज्ञान का नया स्त्रोत व माध्यम बन जाता है । इस अर्थ में संस्कृति का क्षेत्र एक ऐसा अन्तर्विषयक ढांचा है जो अतीत, वर्तमान व भविष्य की व्यवहार्य संकल्पना का आधार जुटाता है, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक असतताओं (Discontinuties) की व्याख्या करता है, उन्हें उनका काल-सापेक्ष व कालातीत संदर्भ प्रदान करता है तथा व्यक्ति व समाज दोनों को निजी व परस्पर दृष्टि से समायोजित-परिमार्जित करता है। यह एक अविरल प्रक्रिया है। व्यक्ति व समाज की अलग-अलग व मिली-जुली विकास-यात्रा इसी सांस्कृतिक अभियान पर अवलम्बित है।

संस्कृति का कोई एक सर्वमान्य अथवा सर्वकालिक रूप-निधान नहीं है। संस्कृति का वस्तुत: साधना से गहरा सम्बन्ध है। जैसे साधना बहु रूपी व विविध होती है उसी प्रकार स्वयं संस्कृति भी बहु रूपी व विविध आयामी होती है। यद्यपि एक तथ्य सभी संस्कृतियों में समानत: विद्यमान है। संस्कृति सदैव प्रकृति पर उन्नयन और उससे समझदार दूरी का ही दूसरा नाम है। इसलिए संस्कृति की कोई भी समझ प्रकृति से नासमझी द्वारा नहीं उपज सकती। प्रकृतिजन्य समझ व उस समझ से उत्पन्न विवेक व सत्कर्मों द्वारा ही सांस्कृतिक परिष्कार सम्भव है। एक दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि व्यक्ति की 'सम्यक् कृति' के रूप में संस्कृति साधना की भांति व्यक्ति के साध्य, उद्देश्यों एवं मंतव्यों से ही अभिज्ञेय है। मूल्य, अर्थवत्ता अथवा उद्देश्य की अवधारणा के परे व्यक्ति की किसी भी कृति को (संस्कृति समेत) न तो अभिकल्पित किया जा सकता है और न ही उसका कोई समग्र विश्लेषण सम्भव है।[2]

1.3 संस्कृति की अवधारणा

संस्कृति का मूल अंकुरण सदैव वैयक्तिक आत्म-चेतना के धरातल पर होता है। सामाजिक परिस्थितियां और पर्यावरण उसका व्यापक परिदृश्य तो अवश्य निर्मित करते हैं, परन्तु उनकी उपस्थिति व भूमिका अनिवार्यत: सहयोगी ही होती है, मौलिक नहीं। कोई भी अलौकिक प्राकट्य अथवा उदघाटन सदैव वैयक्तिक भाव-भूमि पर होता है और इसलिए कोई विलक्षण उदघाटन भी केवल उसी धरातल पर ही सम्भव है। क्योंकि वैयक्तिक चेतना और भाव-भूमि ही ऐसे व्यापार का, माध्यम होती है, इसलिए सामाजिक मानस (Social Mind) इस प्रक्रिया का नियामक नहीं हो सकता।[3] व्यक्ति का सारांश उसका 'विश्वास' है न कि उसकी तर्क-बुद्धि तथा 'श्रम' तो इस दृष्टि से और भी कम प्रासंगिक है।[4] ऐसा इस कारण क्योंकि व्यक्ति को उसके विश्वास से ही संस्कृति-प्रासंगिक विश्व-दृष्टि मिलती है और इस विश्व-दृष्टि के सतत् परिक्रमण से स्वयं उसका मूल विश्वास निरन्तर परिचालित होता है। इसी विश्व-दृष्टि की परिधि में व्यक्ति तर्क-बुद्धि को नियोजित करते हैं और इसी के अन्तर्गत वे अपनी तर्क-बुद्धि के बल पर अपना श्रम भी निर्देशित करते हैं।[5] श्रीमद भगवद् गीता में इसी विश्वास अथवा श्रद्धा को व्यक्ति का अस्तित्व-कारण इंगित किया गया है और उसी के अनुरूप उसे अभिज्ञेय माना गया है:

"सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।"[6]

(सभी व्यक्तियों की श्रद्धा उनके अपने सत्त्व अथवा मानस-गठन के अनुरूप होती है। **व्यक्ति श्रद्धामय है; जो जैसे श्रद्धा वाला है वह स्वयं वही है)।**

स्वयं संस्कृति के इतिहास से हमें यह ज्ञात होता है कि प्राय: स्थापत्य, नागर- तत्त्व तथा भौतिक जीवन के विविध उपकरणों व उनकी क्रियाशीलता से किसी समाज के विकसित होने के प्रमाण संकलित किए जाते रहे हैं। यद्यपि प्रौद्योगिकी व भौतिक जीवन विषयक ये गुणात्मक मापदण्ड अभी भी सामान्यत: वैध हैं लेकिन अब यह अधिकाधिक अनुभूति हो रही है कि ये बाह्यवर्ती मापदण्ड विकास के अधूरे आयाम प्रतिपादित करते हैं। संस्कृति व सभ्यता के मापन में व्यक्ति की मानस-गणनाएं व त्वरित चालनता अपने आप में एक विशिष्ट कसौटी हैं जो समाजों को क्रमश: साक्षर व पूर्व-साक्षर श्रेणियों में आबद्ध करती हैं।[7] लेखनी ने निस्संदेह परम्परा के स्वरूप व सम्भावनाओं को परवर्ती काल में अपरिमित विस्तार दिया। संस्कृति की समझ पर उसका अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी प्रतीकात्मक महत्ता

से लेखनी ने परम्परा को काल-स्थायी बना दिया और इस सबसे परम्पराओं के पुनरुत्थान को भी पर्याप्त बल मिला। इस सबके बावजूद लेखनी तर्क-बुद्धि के विषय-क्षेत्र में निहित है। उससे उस सब की तो थाह मिलती है जो व्यक्ति के भाव-जगत में प्रकट होता है परन्तु सांस्कृतिक तत्व व विरासत मनुष्य की अन्त: चेतना में कैसे उद्घाटित व संयोजित होते हैं स्वयं इसका आभास किसी तर्क-बुद्धि की विद्या द्वारा सुलभ नहीं हो पाता। यहीं से श्रद्धा, विश्वास एवं मूल्य-व्यवस्थाएं अधिकाधिक प्रासंगिक व मुखर प्रतीत होते हैं।

पश्चिम के प्रख्यात विद्वानों ने प्रारम्भ में संस्कृति को उसके जटिल-सम्पूर्ण (Complex Whole) रूप में प्रतिपादित किया। उदाहरणार्थ-टाइलर की संस्कृति विषयक परिभाषा उल्लेखनीय है:

"संस्कृति वह जटिल सम्पूर्ण है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक तत्व, विधि, प्रथागत व्यवहार समेत ऐसी अन्य सभी क्षमताएं समाहित हैं, जिन्हें समाज के सदस्य-रूप में व्यक्ति अर्जित करता है।[8]

इसी प्रकार, क्रोबर ने संस्कृति को मानव व्यक्तित्वों से सम्बन्धित “ऐसी समस्त गतिविधियों व शरीर-क्रियात्मक उत्पादों” के रूप में परिभाषित किया “जो यन्त्रवत् प्रतिवर्तात्मक व सहज (Automatically reflexive and instinctive) नहीं हैं । इसका निहितार्थ यह हे कि संस्कृति की दुनिया के सारे कारोबार सुविचारित, परिमार्जित तथा संस्कारशील होते हैं । अपनी इन विशिष्टताओं के साथ वे प्रकृति से ऊपर उठने की प्रवृत्ति का परिचय देते हैं । उनमें यांत्रिकता नहीं बल्कि विवेक व सदाचरण से उत्पन्न सहजता का पुट मिला होता है ।

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति की चेतना, उसके अस्तित्व-कारण, उसकी उद्देश्य परकता से है, अतएव सभी संस्कृतियां “'व्यक्ति व ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित विविध दार्शनिक संकल्पनाओं पर आधारित है ।”[10] इन दार्शनिक संकल्पनाओं की विविधता के बावजूद एक बात यह है कि सभी संस्कृतियां मानव की आत्म-चेतना व संस्कारशीलता पर फलती- फूलती हैं। उनसे उनके अपने विविध विकास-क्रम में जीवन की समग्रता व संयोजन शीलता का स्पष्ट बोध होता है । ऐसी स्थिति में जीवन-दर्शन के किसी एक पक्ष पर बल देते हुए भी सभी संस्कृतियां अन्य जीवनपक्षों की कभी उपेक्षा नहीं करती । इस अर्थ में आध्यात्मिक- आदर्शवादी संस्कृतियां भौतिकता व यथार्थ के लौकिक पक्षों से कतई अछूती नहीं है । वे तो आदर्श के अनुरूप सभी सामाजिक संगठन प्रकारों व जीवन-प्रक्रियाओं के संयोजन पर बल देती हैं । ठीक इसी प्रकार, मार्क्सवादी- भौतिकवादी संस्कृतियां आध्यात्मिक-आदर्शात्मक मानदण्डों से विरत नहीं हैं । वे भौतिकवादी संकल्पनाओं के अनुरूप सृजित व रूपांतरित होते हैं । प्रश्न विविध तत्वों में से किसी एक तत्व की प्रधानता का है । इस प्रधानता से शुरू होकर हर संस्कृति सभी प्रासंगिक सांस्कृतिक प्रसंगों को संयोजित करते हुए जीवन की समग्रता को ही अभीष्ट मानती है । हर संस्कृति पूर्णता की इसी साधना को समर्पित है । संस्कृतियों की इस पूर्णता व अन्तर्निर्भरता का ऐतिहासिक-सामाजिक विश्लेषण आगे की इकाई " विश्व संस्कृतियों के संदर्भ में भारतीय संस्कृति” के अन्तर्गत सविस्तार किया जाएगा ।

जीवन के प्रति समग्र दृष्टि का अभाव उस समय प्रकट होने लगा जब सभ्यताओं के विकास-क्रम में व्यक्ति, राज्य, समाज, धर्म, दर्शन, नैतिकता तथा स्वयं ईश्वर के बीच विभाजक-रेखाएं खींची जाने लगीं । मौलिक श्रद्धा का स्थान तार्किकता ने लेना शुरू किया और इसके साथ ही समग्रता का अस्तित्व

शिथिल से शिथिल होता चला गया, जीवन विश्रृंखलन सा हो गया । विशेषत: पश्चिम के संदर्भ में तर्क-बुद्धि प्राय: "वल्क द्वारा अभिनियंत्रित व्यवहार (Critically Controlled Behaviour) " के रूप में विकसित हुई है जिसकी सहायता से व्यक्ति अपने पर्यावरण की चुनौतियों का सर्वाधिक प्रभावशाली सामना करने की सामर्थ्य जुटा सके हैं ।[11] जीवन और मृत्यु में सामंजस्य स्थापित करने के क्रम में विकसित प्रथम तर्क- बुद्धि संकल्पना के साथ ही व्यक्ति और ईश्वर में द्वैताभास (दोहरेपन का अहसास) पैदा हुआ । इससे पूर्व प्रकृति की एकीकृत बुनावट में यह अंतर कतई प्रासंगिक नहीं था । इस द्वैताभास ने ईश्वर को जहां प्रकृति व स्वयं व्यक्ति का सर्जनहार ठहराया, वहीं उसने मनुष्य की सीमित क्षमताओं का भी बोध कराया । अपनी सीमित शक्ति व क्षमता की अनुभूति ने व्यक्ति को अपनी क्षमता-वृद्धि के लिए सतत् अनुप्रेरित किया । सभ्यता के हर विकास-चरण में व्यक्ति प्रकृति को नियंत्रित करने की चेष्टा में लीन दिखाई देता है, प्रकृति पर विजय लालसा ने उसे सफलता भी दिलाई, वह अपना ईश्वर अपने आप होने को प्रवृत्त हुआ । लेकिन, इस समस्त ' सभ्य कारोबार' के चलते वह प्रकृति से दूर हुआ, ईश्वरत्व से भी विमुख हुआ और जीवन की संतुलनकारी डोर उसके हाथ से छूट गई । इसीलिए प्राय: यह कहा जाता है कि सभ्यता का हर उत्कट विकास संस्कृति के अपकर्ष का कारण बनता आया है ।

पश्चिमी संदर्भ में व्यक्ति की व्यक्ति व समाज विषयक दुविधाओं और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संदर्भ में उनके प्रभावों पर विचार करते हुए गोविन्द चंद्र पाण्डे का यह मत है कि स्वतंत्रता तथा सत्ता और राज्य तथा व्यक्ति के बीच प्रवर्तित संघर्ष वस्तुत: व्यक्ति व ईश्वर के बीच द्वैताभास का ही विस्तार है ।[12] उनके अनुसार ' 'पश्चिमी मानस में स्वतंत्रता व सत्ता के बीच उपस्थित सतत् दोलन तथा अनिर्णीत संघर्ष पिता व पुत्र सम्बन्धों की उस प्रतीकात्मकता में चरितार्थ होता है जिसमें जुडियों-ईसाई परम्परा ईश्वर व व्यक्ति को संकल्पित करती है । परेशानी वास्तव में व्यक्ति विषयक उस पश्चिमी संकल्पना से उत्पन्न होती है । जिसमें स्वयं ईश्वर को व्यक्ति के परिवर्द्धित रूप में ही प्रतिबिम्बित किया गया है । यूनानी परम्परा ने तर्क- बुद्धि को व्यक्ति का सार माना जबकि ईसाई परम्परा ने..... (इस" उद्देश्य से) इच्छा पर बल दिया । आधुनिक वैज्ञानिक मानव वाद में इच्छा को सुधा से तथा तर्क-बुद्धि को मूल्य-तटस्थ विज्ञान से अलग कर पाना मुश्किल है। परिणामत: आधुनिक पश्चिमी अपने को अतार्किक संवेगों से संचालित पाता है और उसके पास मार्गदर्शन के लिए तार्किक व वैज्ञानिक तर्क- बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध नहीं होता । ऊर्ध्वोन्मुख अथवा सामाजिक प्रकार के किसी विश्वास के अभाव में तर्क- बुद्धि केवल उन्माद के आंकलनकारी स्वर में ही अवतरित हो पाती है । मानव भावना के सतत् अन्त: संघर्ष के प्रति इस असहायता ने सत्ता ' बाह्य स्त्रोत की खोज तथा क्रांतिकारी सत्ता-पलट अभियानों के विरोधाभासी उपक्रमों में स्वयं को अभिव्यक्ति दी है । तर्क- बुद्धि पर इस इकतरफा बल के वशीभूत पश्चिमी दिमाग विशुद्ध भौतिक के पक्ष में सूक्ष्म भौतिक का अनादर करता आया है और सारगर्भित को पूर्णत: अतार्किक ठहराता रहा है । इसके परिणाम स्वरूप सारगर्भित स्तर अशोभनीय संघर्षों से तथा तार्किकता आध्यात्मिक व नैतिक बांझपन से आक्रान्त रहे हैं । "[13]

पश्चिमी जगत में सामन्तवाद से पूंजीवाद, पूंजीवाद से औद्योगिकवाद, औद्योगिकवाद से उत्तर- औद्योगिकवाद व सहगामी अलगाववाद तक की यात्रा तथा उसके सभी अन्तर्वर्ती पड़ाव व्यक्ति की इस एक-आयामी (तर्क- बुद्धि विषयक) सम्पन्नता को परिपुष्ट करते हैं । समाज के केन्द्र में व्यक्ति और व्यक्ति के केन्द्र में उसकी वैयक्तिक सुख-संवर्द्धन की अभिलाषा ने जीवन, समाज व स्वयं व्यक्ति

को सतत् अधूरापन ही प्रदान किया है । वैयक्तिक-सामाजिक संदर्भों में तार्किक अथवा आंकलित हितों की उपयोगितावादी संकल्पनाएं पश्चिमी उदारवादी परिवेश में राज्य, राजनीति, समाज तथा व्यक्ति को निरूपित करती रही हैं । राष्ट्र-राज्यों की स्थापना इस दृष्टि से कोई गुणात्मक विकल्प नहीं प्रस्तुत करती। वह उपयोगितावादी आग्रहों को ही अधिकाधिक सम्बल प्रदान करती हैं ।

पश्चिमोत्तर विश्व में संस्कृति, समाज एवं व्यक्ति परस्पर बंटे नहीं दिखाई देते । इसका प्रमुख कारण यह है कि पश्चिम से भिन्न इन समाजों में विश्वास तथा मूल्य-व्यवस्थाएं ऐतिहासिक काल-क्रम में अधिक स्थायी रहे हैं । जीवन और जीवन के उद्देश्य वहां अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध रहे हैं । भारत में संस्कृति व सांस्कृतिक श्रेणियां जन-विश्वास और लोक-प्रतिष्ठा के आधार पर अधिक ठोस धरातल पर अवस्थित रही हैं । जीवन का हर संस्कार सांस्कृतिक मर्यादा से बंधा हुआ है, हर त्यौहार सामूहिक रूप से उसी सांस्कृतिक चेतना को प्रतिबिम्बित करता रहा है तथा व्यक्ति व समष्टि में परस्पर आबद्धता एवं जीवंत विचार के रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहे हैं । पारस्परिक संस्कृतियों तथा सभ्यताओं को सामान्य (नॉर्मल) मानते हुए आनन्द कुमारस्वामी भारतीय संस्कृति व सभ्यता को उसका अभिन्न व विशिष्ट प्रकार इंगित करते हैं । ये वे सभ्यताएं व संस्कृतियां हैं जो पश्चिम की भांति 'यथार्थ के दारिद्र्य' तथा 'जीवन से उसके अर्थ के विलोप' का परिचय नहीं देती । [14]

कुमारस्वामी के अनुसार भारत में आभासित विविधताओं के बावजूद सांस्कृतिक संसक्ति तथा एकता का भाव भारतीय संस्कृति व समाज के अध्येताओं को सतत् प्रभावित करता रहा है । "कई एकताएं ऐसी हैं जो राजनीतिक एकता की अपेक्षा कहीं अधिक अनिवार्य व महत्वपूर्ण हैं, ये जीवन के अन्तिम लक्ष्यों न कि तात्कालिक उद्देश्यों के प्रति समान समझ पर अवलम्बित हैं और इनके प्रति प्राय: अनन्त धारणाएं व विचार-प्रकार संकल्पित किए जा सकते हैं ।"[15]

भारतीय मनीषा में संस्कृति का निहितार्थ माना गया है जीवन के हर क्षेत्र में पूर्णता की साधना । यह पूर्णता मैथ्यू आर्नोल्ड के शब्दों में यूनानियों के हेब्रेइज़्म तथा यहूदियों के हेब्रेइज्म के समन्वय से प्राप्त होती हैं । हेब्रेइज्म चेतना की सहजता का द्योतक है जबकि हेब्रेइज्म अन्तरात्मा के कठोर अनुशासन का परिचायक है । पहले से आह्लाद तथा आनन्द बोध होता है जबकि दूसरे से आचार-विशुद्धता तथा तपस्या का ।[16] संस्कृति-सम्पन्न व्यक्ति, विनायक कृष्ण गोकक के शब्दों में समग्र व्यक्ति होता है । "वह न तो अपने भीतर विभक्त होता है और न अपने विरुद्ध ही ।" वह आत्म-विभाजन से उबरा हुआ व्यक्ति प्रकट होता है...... किसी भी संस्कृति-सम्पन्न व्यक्ति के विचार, भावनाएं तथा कृत्य परस्पर सदभावयुक्त व सहज संयोजित होते हैं ।[17] अतएव, संस्कृति व्यक्ति की समस्त इन्द्रियों एवं क्षमताओं जैसे बुद्धि व भाव, अंत-प्रज्ञा व ऐन्द्रिक बोध तथा हाड-मांस व उत्कर्षशील भावना के सद्भावी एवं संतुलित समायोजन में समाहित है ।[18] गोकक के शब्दों में सुसंस्कृत व्यक्ति सार्वदेशिक को. विशिष्ट से तथा युग-दावों को सनातन-दावों से समायोजित करता है ।[19]

जीवन का विराट सत्य ऐसे ही विराट बोध से उद्घाटित हो सकता है । जीवन का नैसर्गिक सौन्दर्य ऐसी ही विराट चेतना से चरितार्थ हो सकता है । इस चेतना के वाहक रूप को आनन्द कुमार स्वामी भरपूर अभिव्यक्ति देते हुए जीवन को सतत् कला-साधना मानते आए हैं । उनके अनुसार "कला के बिना उद्यम बर्बरता है....... व्यक्ति तब तक कभी भी वास्तविक अर्थों में सुखी नहीं हो सकते जब तक कि वे न केवल जो कुछ करते हैं उसकी किस्म व गुणवत्ता का दायित्व भी वहन करें ।"[20] जीवन

में कला की यह अनिवार्य तथा जीवन्त उपस्थिति ही संस्कृति को वैयक्तिक व लोक-जीवन में सतत् प्रतिष्ठा प्रदान करती है । इसके आलोक में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व राजनीति के आभासित कटाव कभी भी अंतिम यथार्थ नहीं बन पाते, वे हद से हद संक्रमणकालिक अव्यावहारिकताओं तथा दुर्घटनाओं का दर्जा ही पाते हैं। जीवन हमेशा ऊर्ध्वोन्मुख चेतना तथा आत्म-प्राप्ति का साधन बना रहता है ।

1.4 विशिष्ट सम्बन्धात्मक प्रसंग

1.4.1 संस्कृति एवं पर्यावरण

पर्यावरण के प्राय: दो आयाम स्वीकार किये जाते हैं- प्राकृतिक पर्यावरण तथा सामाजिक पर्यावरण । प्राकृतिक पर्यावरण की परिधि में हमारी पृथ्वी, उसके इर्द-गिर्द का ब्रह्माण्ड, विशिष्ट गैसें, रासायनिक पदार्थ व उनके संयोजक प्रकार, तापमान क परिसीमित परिवर्तन आदि आते हैं ।" मानव गतिविधियों के (समस्त) प्रवाह तथा काल विषयक हमारी संकल्पनाएं पृथ्वी की परिक्रमा, उसके झुकाव तथा विचरण द्वारा संरचित एवं नियमित होते हैं; उसी के परिणामस्वरूप दिन, ऋतुएं तथा वर्ष चरितार्थ होते हैं ।"[21] प्राकृतिक पर्यावरण ही मानव समाजों तथा सामाजिक संगठन के अन्य प्रकारों को ऐसे महत्वपूर्ण संसाधन उपलब्ध कराता है जिसकी मदद से हम अपनी उत्तरजीविता तथा कुछ समान उद्देश्यों की उपलब्धि सुनिश्चित कर पाते हैं ।[22] हर समाज प्राकृतिक पर्यावरण से ही भोजन, पानी, खनिज व रासायनिक पदार्थ, भवन निर्माण सामग्री, ईंधन, सौर ऊर्जा, जलवायु, बिजली तथा स्वयं काल व उसके अभिज्ञान को संचित करता है जो जीवन यापन की दृष्टि से बुनियादी महत्व के तत्त्व हैं ।

सामाजिक पर्यावरण व्यक्तियों की वैशेषिक अन्तर्निर्भरता को चरितार्थ करता है ।" अन्तर्निर्भरता के अन्तिम बंधन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को एकता प्रदान करते हैं....... यदि व्यक्तियों अथवा संगठनों को कालक्रम में अक्षुण्ण रहना है या उन्हें उनके लक्ष्यों की प्राप्ति करनी है तो उन्हें अपरिहार्य रूप से उनके सामाजिक पर्यावरण में निहित अन्य (व्यक्तियों व संस्थाओं) से जुड़ना ही पड़ता है...... (अपनी सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रकृति के बावजूद) अन्तर्निर्भरता सामाजिक जीवन के हर क्षेत्रों में हमसे दो-चार होती है ।"[23] सामाजिक पर्यावरण में अन्तर्निर्भरता का एक उदाहरण व्यक्ति की दैनंदिन जीवनचर्या से प्रकट होता है । हर व्यक्ति लगभग रोज ही अपनी दिनचर्या के दौरान परिवार व उसकी आवश्यकताओं स जुडता है, बेटे, बाप, पति, भाई आदि के रूप में अपनी भूमिकाओं का सतत् निर्वाह करता है, उसे अपनी आजीविका के लिए अपने कार्यालय अथवा रोजगार प्रतिष्ठान से जुड़ना होता है, पिता के रूप में बच्चों के विद्यालयों से सम्पर्क साधना होता है, उपभोक्ता के रूप में बाजार व उसकी खरीद-फरोख्त प्रक्रिया का भाग बनना पड़ता है, राजनीतिक अभिकर्ता के रूप में किसी राजनैतिक दल अथवा विचारधारा से सक्रिय अथवा अर्द्ध-सक्रिय/निष्क्रिय भागीदारी निभानी पड़ती है, बैंक, सिनेमाघर, क्लब आदि से नियमित सम्पर्क रखना होता है- सम्बन्धों, अन्त: क्रियाओं एवं प्रभावों की यह दैनंदिन आवश्यकताएं व उनकी सूची असंख्य है । यह कहा जा सकता है कि सामाजिक पर्यावरण वैयक्तिक जीवन में चाही-अनचाही दखलन्दाजी करता ही रहता है, यह अपरिहार्य है ।

संस्कृति प्राकृतिक व सामाजिक पर्यावरण के प्रति व्यक्ति को चेतनशील बनाती है । उसकी चेतना से वे संस्कार प्रकट होते हैं जो व्यक्ति के लिए पर्यावरण के सन्दर्भ में ' कुछ करने' तथा 'कुछ

न करने' की समझ पैदा करते हैं । इन करणीय एवं अकरणीय कृत्यों की समझ से व्यक्ति का उसके पर्यावरण से सहज सामंजस्य स्थापित हो पाता है ।

संस्कृति व पर्यावरण के सम्बन्धों व उससे उत्पन्न उत्कर्षशील मानवता का अत्यन्त सटीक वृत्तान्त पं. विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्ध "दाम्यत दत्त दयध्वम्" से उपलब्ध होता है ।[24] विभिन्न स्वभाव वाल व्यक्तियों के लिए सम्यक् आदर्श की अपरिहार्यता स्पष्ट करते हुए पं मिश्र उपनिषद् की एक कथा का उल्लेख करते हैं और तदनन्तर उक्त आदर्श की महत्ता व समसामयिकता प्रतिपादित करते हैं । वर्णित कथा के अनुसार देव, मनुष्य तथा असुरों ने घोर तपस्या की । तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उन्हें एक-एक वर मांगने को कहा । उन तीनों ने ही एक समान वर मांगते हुए कहा कि कोई एक ऐसी बात बताइए जो हमारे लिए जीवन-मंत्र बन जाए और जिससे हम अपने जीवन उद्देश्य को सिद्ध कर सकें । ब्रह्माजी चकराए कि मित्र स्वभाव के इन लोगों के लिए अभीष्ट एक ऐसा मंत्र क्या हो सकता है जो उन्हें जीवन-सिद्ध कर दे । बहुत सोच कर उन्होंने तीनों को दीक्षित किया- 'द, द, द' और उनसे क्रमश: उनके 'द' का अभिप्राय पूछा । देवों ने ' द' से दमन का अर्थ ग्रहण किया क्योंकि वे घोर भोग में लिप्त थे, मनुष्यों ने 'द' से दाव का भाव पाया और यह उनके माया-मोह और आसक्ति का दान- संकल्प था जबकि असुरों ने अपने 'द' का मर्म दया से समझा क्योंकि वे घोर हिंसा में लिप्त थे और हिंसा का प्रतिकार दया से ही सम्भव था । इस प्रकार आदर्श की सृष्टि हुई- "दमन करो, दान करो, दया करो, दम सीखो, दान सीखो, दया सीखो" (दाम्यत दत्त दयध्वम् तत: शिक्षेद् दयं दानं दयामितिं)।

आज के संदर्भ में इस कथा और उसके आदर्श का भाव यह है कि हम अपने अतृप्त उपभोग का दमन करें, अपने भीतर व्याप्त हिंसा, क्षुद्रता व त्याग का दान करे आर स्वयं अपने पर दया करते हुए सब पर समान दया का भाव विकसित करें । साथ ही यह भी कि "दूसरे हमसे मांगने वाले हों, हम स्वयं किसी से कुछ न मांगे । " केवल तभी हम अपने पर्यावरण के साथ जी सकते हैं, न उसको दबा कर और न उससे दब कर ही ।

1.4.2 संस्कृति व समाज

समाज प्रकृति द्वारा दिया गया भौतिक व सामाजिक शक्तियों का एक सर्वाधिक शक्तिशाली संयोजक है । समाज में विचार के सर्वोच्च प्रकारों को समायोजित करने की क्षमता है । सामूहिक चेतना-स्वरों से उपजा सामाजिक भाव प्रत्येक बीज को उसके स्थायी व अनिवार्य पक्षों के संदर्भ में ही देखता- भालता है ।[25] मार्विन ऑल्सेन ने समाज की परिभाषा देते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि "समाज व्यापक रूप से एक ऐसा अन्तर्भावी सामाजिक संगठन है जिसमें क्रियात्मक तथा सांस्कृतिक स्वायत्तता विद्यमान है तथा जो (इस सम्पन्नता के साथ) अन्य सभी संगठन-प्रकारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है ।"[26] ऑल्सेन सामाजिक स्वायत्तता की चार विशेषताएं प्रतिपादित करता है- (i) अधिकांश सामाजिक सम्बन्ध समाज के परिवेश में चरितार्थ होते हैं तथा अपवादी बाह्य योगदानों की निरन्तरता सम्बन्धित समाज की इच्छा पर निर्भर करती है ; (ii) कोई भी समाज अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर होता है और अन्य समाजों से अस्तित्व के आधार पर सर्वथा पृथक भी यदपि इसका अर्थ व्यापक स्तर पर अलगाव नहीं है । स्वायत्तता व पृथकता का अभिप्राय यह है कि संसाधनों का नियोजन व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति उस समाज द्वारा स्वत: निर्धारित प्रक्रिया व प्राथमिकता से होती हे; (iii) प्रत्येक

समाज अपने सदस्यों के संदर्भ में औचित्यपूर्ण रूप से प्रभावी निर्णय लेने की क्षमता रखता है और ये निर्णय समाज के सदस्यों द्वारा नैतिक रूप से सहज स्वीकार्य होते हैं तथा (iv) समाज की सत्ता सर्वोच्च होती है और इस नैतिक सत्ता की नैतिक स्वीकृति के आधीन उस समाज के व्यक्ति आन्तरिक व बाह्य चुनौतियों से अपने समाज की प्रभावी रक्षा करते हैं ।[27]

समाज के सदस्य अपनी समस्त सामाजिकता का भाव संस्कृति से ग्रहण करते हैं । संस्कृति का आधार संस्कार हैं और संस्कार व्यक्ति को समाज की विविध इकाईयों जैसे परिवार, विद्यालय, जाति- समाज, सगे- सम्बन्धियों से मिलते हैं, तो इस रूप में समाज और संस्कृति अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर आश्रित) हैं । समाज के परिवेश में संस्कार और मूल्य व्यक्तियों को वैयक्तिक सम्प्रेषण की सतत् परम्परा से मिलते रहते हैं और इससे उनमें चेतना के धरातल पर वह समझ पैदा होती है जो उनकी सम्यक् कृति के रूप में संस्कृति कहलाती है । संस्कृति से उत्पन्न व्यक्तित्व फिर स्वयं उस समाज की पहचान बन जाता है । संस्कृति-सम्पन्न व्यक्ति के क्रियाकलापों से धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि अनुप्राणित व सहज विकसित होने लगते हैं और उस समाज की सुरभि सर्वत्र फैलने लगती है।

समाज में संस्कृति के प्रसार की एक पूर्व शर्त यह है कि वहां व्यक्ति अपनी दैनंदिन आवश्यकताओं से ऊपर हो, उसकी अपनी रोजी-रोटी की लड़ाई न लड़नी परे और समाज मे न्याय, भलाई और व्यवस्था प्रचलित हो । इनके अभाव में कोई भी संस्कृति फल-फूल नहीं सकती । संस्कृति क्योंकि सभी व्यक्तियों की समान धरोहर है, इसलिए उसका कोई भी वर्गीय स्वरूप चाहे वह आभिजात्य वर्गीय हो, या पूंजीपति वर्गीय और या सर्वहारा वर्गीय, केवल अधूरी सांस्कृतिक चेतना का ही द्योतक है । ऐसे सांस्कृतिक परिवेश की अभिव्यक्ति कुछ. ऐसी ही होगी जैसी कि टेनिसन ने सर लेन्सलॉट के विषय में की थी ।[28]

> **"उनका आदर अनादर में गड़ा खड़ा था और विश्वास अविश्वासी रूप में उन्हें झूठ-मूठ सच बनाए रखे था ।"**

इसी के साथ यह भी जरूरी है कि जीवन आवश्यकताओं की पूर्ति और तत्सम्बन्धी प्रयास इतने बेलगाम भी न हो जाएं कि वे संस्कृति की सीमा-रेखा ही लांघ जाएं । ऐसी स्थिति में भी संस्कृति का ह्रास होता है । हमारे अपने समय में महात्मा गांधी पश्चिम के प्रबल उपभोक्तावाद और सतत् बढ़ते लालच पर इसीलिए वैचारिक चोट करते रहे क्योंकि ये भाव संक्रामक रोग की तरह अधिकाधिक विश्व-व्यापी हो चले थे और इसलिए इनका प्रतिकार आवश्यक था । जीवन जीने की सांस्कृतिक समझ का, आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में यह आग्रह है कि जीवन गुणात्मकता के आयामों को सदैव संयोजित करता रहे। "सभ्यता हमारी इच्छाओं को बढ़ाने और उनकी परितृप्ति के संसाधन जुटाने में निहित नहीं है (उसका प्रयोजन तो) इच्छाओं के गुणों का परिमार्जन करना है । उद्यम स्वयं अपने आप में कोई लाभ नहीं है । भौतिक सभ्यता का सच्चा साध्य उत्पादन नहीं बल्कि उपयोग है, श्रम नहीं बल्कि फुरसत है, विनाश नहीं बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति के समाज के साथ सम्बन्ध इन्हीं गुणात्मक कसौटियों पर जांचे-परखे जा सकते हैं ।

1.4.3 संस्कृति व राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद मूलतः एक मनःस्थिति और सचेतन क्रियाशीलता है ।[30] इसके परिवेश में समान ऐतिहासिक, धार्मिक, भौगोलिक, भाषायी व राजनीतिक अस्मिता का बोध व उससे अनुरागात्मक

आसक्ति प्रकट होती है । राष्ट्रवाद अपने रूप व कलेवर में दो अत्यन्त पुरानी वृत्तियों का आधुनिक भावात्मक संयोजन है- राष्ट्रीयता व देश भक्ति ।[31] जब यह कहा जाता है कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक है तो यह राष्ट्रवाद में निहित भावात्मक एकता का ही गुणगान है । राष्ट्रवाद किसी एक समाज की बपौती नहीं है । वह एक 'सार्वदेशिक सत्य' है ।[32] "सिद्धान्ततः हर राष्ट्र अपनी विशिष्ट भावना व शक्ति की स्थितियों में राष्ट्रीय आलोक से प्रकाशित हो सकते हैं और अन्य राष्ट्रों को भी यह आलोक सुलभ करते हैं । इस अर्थ में राष्ट्रवाद व्यक्ति की नियति तथा समग्र मानवता की मुक्ति का आह्वान करता है ।

राष्ट्रवाद परम्परा तथा जातीय अस्मिता के साथ वस्तुतः संस्कृति की ही एक उप-धारा है । उनके सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ हैं कि एक को दूसरे से पृथक देखना प्रायः असम्भव है । संस्कृति की उपधारा के रूप में राष्ट्रवाद अपने क्षेत्र को तो सींचता है परन्तु जलधारा उसकी नहीं संस्कृति की होती है । संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना के परे राष्ट्रवाद को संकल्पित नहीं किया जा सकता । सांस्कृतिक चेतना न केवल राष्ट्रवाद को गढ़ती है बल्कि वह उसे परिसीमित भी करती है । राष्ट्रवाद 'अनर्थकारी भ्रष्टाचार'[34] न बन जाए, यह देखना संस्कृति का काम है । संस्कृति से सम्पन्न होकर राष्ट्रवाद अपनी संकीर्णता का परित्याग करता है और समग्र मानवता को समर्पित होता है । राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक आयामों की परिपूर्ण अभिव्यक्ति महात्मा गांधी के विचारों में अन्तर्निहित है । उनके अनुसार "....... देशभक्ति और मानवता एक समान है । मैं देशभक्त हूँ क्योंकि मैं मानव और मानवोचित(गुणों से युक्त) हूँ ।(देशभक्ति) एकान्तिक नहीं होती । मैं भारत की सेवा के लिए इंग्लैण्ड अथवा जर्मनी को चोट नहीं पहुँचाऊँगा....... किसी देशभक्त का कानून कुलपति के कानून से भिन्न नहीं होता । कोई अनुत्साही मानवतावादी देशभक्त हो ही नहीं सकता ।"[35] उन्होंने यह भी कहा था कि “हमारा राष्ट्रवाद दूसरे देशों के लिए कोई खतरा नहीं हो सकता क्योंकि (उसके क्रम में) हम किसी को वैसे ही नहीं शोषित करेंगे जैसे कि हम स्वयं किसी से शोषित होना नहीं चाहेंगे । स्वराज के माध्यम से हमारा अभीष्ट सम्पूर्ण विश्व की सेवा है ।”[36]

1.5 सारांश

संस्कृति एक अन्तर्विषयक क्षेत्र है जिसकी परिधि में धर्म, दर्शन, नैतिकता, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषय आते हैं । वे परस्पर मिल कर संस्कृति का अन्तर-अनुशासन बनाते हैं । संस्कृति एक साधना है । व्यक्ति की एक विशिष्ट कृति (या सम्यक् कृति) के रूप में संस्कृति, मूल्य, विश्वास, जीवन-उद्देश्य व उनकी सम्यक् पूर्ति को समर्पित है ।

संस्कृति आत्म- चेतना से उद्घाटित होती है । सामाजिक परिस्थितियां व पर्यावरण उसके सहयोगी तो हैं पर प्राथमिक अर्थवत्ता प्राप्त नहीं है । वैयक्तिक मानस, न कि सामाजिक मानस संस्कृति का मौलिक रचना-संसार है । श्रद्धा उसका मानसिक विन्यास और अन्तः प्रेरणा है । संस्कृति के इतिहास ने अपने विकास क्रम में बाह्यवर्ती व अन्तर्वर्ती विकास-मानों को यथा सम्भव संतुलित व संयोजित किया है ।

पश्चिमी विद्वानों ने प्रारम्भ में संस्कृति को एक जटिल सम्पूर्ण रूप में देखा-भाला । क्रोबर व टाईलर जैसे विद्वान इस बौद्धिक वृत्ति के प्रतिनिधि रचनाकार हैं । परवर्ती काल में आस्था व विश्वास तर्क- बुद्धि के प्रबल संवेगों के आगे विपन्न हो गए । तर्क- बुद्धि ने जीवन की समभ्रंता को खण्डित

किया तथा समाज में प्रभावी विभाजक-रेखाएं प्रवर्तित हो चली जिन्होंने व्यक्ति को समाज, राज्य, राजनीति व स्वयं अपने से विच्छिन्न कर दिया । प्रभावी उपयोगितावादी आग्रहों ने स्थिति को और अधिक विकृत किया ।

पश्चिमेत्तर जगत ऐतिहासिक कालक्रम में प्राय: श्रद्धा व विश्वास से अधिक संयोजित रहा, अतएव उनकी सांस्कृतिक विरासत अपेक्षाकृत अधिक कालस्थायी रही है । जीवन की समग्रता व उसके कलात्मक पक्ष आज भी पर्याप्त लोक-प्रतिष्ठित हैं । राजनीति की प्राथमिकता संस्कृति के लोक आदर्श को मिटा नहीं सकी है ।

इस इकाई में आपने संस्कृति की अवधारणा तथा विविध सामाजिक प्रक्रियाओं से उसके सम्बन्धों का अध्ययन किया। आपको इस अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि संस्कृति का अध्ययन एकान्तिक अध्ययन नहीं है । उसके आयामों के समग्र उद्घाटन के लिए एक साथ अनेक विषयों व अनुशासनों जैसे दर्शन, धर्म, इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, कला, साहित्य आदि का आश्रय लेना अपरिहार्य है । संस्कृति उक्त समस्त शास्त्रों तथा प्रचलित लोक व्यवहार का यौगिक रूप है ।

संस्कृति वस्तुत: साधना है और क्योंकि साधना एक सतत् प्रक्रिया है, अतएव संस्कृति-साधना भी एक अविरल प्रक्रिया है । संस्कृति व्यक्ति की आत्म-चेतना से उद्धभूत एक ऐसी सर्जना है जो व्यक्ति को परिष्कृत, संस्कारित करते हुए उसे जीवन व जीवनेतर प्रसंगों से जोड़ती है और व्यक्ति को उसके अपने अस्तित्व-कारण से कभी विमुख नहीं होने देती । साधना क्योंकि विश्वास पर अवलम्बित है, अतएव संस्कृति के कारोबार विश्वास व श्रद्धा को केन्द्रीय महत्त्व देते हैं । पश्चिम में प्रारम्भ में संस्कृति साधना में आस्था व विश्वास को महत्ता दी गई परन्तु बाद में तर्क- बुद्धि प्रधानता पाने को उद्यत हुई । उस क्रम में पश्चिम के समाज में समानुपाती विभाजन (Cleavages) प्रकट होने लगे जिन्होंने यथार्थ को क्रमश: खण्डित करना शुरू कर दिया। पश्चिमेत्तर जगत में श्रद्धा व अस्तित्व-कारण प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक कालस्थायी रहे ।

संस्कृति का सम्बन्धात्मक परिप्रेक्ष्य समान रूप से यह मत प्रतिपादित करता है कि पर्यावरण, समाज व राष्ट्रवाद के संदर्भ संस्कृति की परिचालनात्मक सत्ता स्वत: सिद्ध है । पर्यावरण के प्रति करणीय व अकरणीय कृत्यों का विवेक संस्कृति से पैदा होता है । समाज के संदर्भ में सामाजिकता का भाव संस्कृति रचती है और उसकी लगाम लगातार संस्कृति के हाथ में ही रहती है । केवल उसी कारण जीवन के गुणात्मक पक्ष जीवन को सतत् सम्पन्न करते रहते हैं । इसी प्रकार, राष्ट्रवाद को 'अनर्थकारी भ्रष्टाचार' बनने से रोकने और उसे समग्र मानवता से जोड़ने का काम भी संस्कृति करती है । अतएव मानव जीवन को सतत् उत्कर्षशीलता संस्कृति से ही प्राप्त होती है ।

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये :-

(1) संस्कृति के अन्तर्विषयक ढांचे से क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट कीजिये ।

(2) 'ईश्वर-व्यक्ति-द्वैधाभास' से क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिये ।

(3) संस्कृति क्या है? संस्कृति में श्रद्धा/विश्वास का क्या स्थान है ? विवेचना कीजिये ।

(व) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये:-

(1) सुसंस्कृत व्यक्ति की क्या पहचान है ? स्पष्ट कीजिये ।

(2) पश्चिम व पश्चिमोत्तर जगत में व्याप्त सांस्कृतिक लक्षणों एवं उनके सामाजिक प्रभावों की समीक्षा कीजिये।

(3) पर्यावरण, समाज व राष्ट्रवाद के संदर्भ में संस्कृत की क्या भूमिका है ? स्पष्ट कीजिये ।

1.7 संदर्भ एवं टिप्पणियां

(1) दया कृष्ण, **"दि स्टडी ऑफ कल्चर एण्ड दि प्रॉबल्म ऑफ इन्टर डिसीम्सिनेरिटी"**, दया कृष्ण विरचित, दि आर्ट ऑफ दि कॉन्सेप्चुअल : एक्सप्लोरेशन्स इन ए कॉन्सेप्चुअल मेज ओवर श्री डेकेड्‌म, नई दिल्ली, 1989 पृष्ठ 262.

(2) वही.

(3) गोविन्द चन्द्र पाण्डे, **दि मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर** (आगरा, शिवलाल अग्रवाल एण्ड सन्स, 1972) पृष्ठ 54.

(4) वही.

(5) वही.

(6) **श्रीमद भगवद् गीता** (17 : 3).

(7) गोविन्द चन्द्र पाण्डे**, पूर्वोक्त**, पृष्ठ 54.

(8) टाइलर**, प्रिमिटिव कल्चर** (न्यूयार्क, ब्रेन्टानो, 1924), पृष्ठ 1.

(9) क्रोबर, **एन्थ्रोपॉलोजी**, पाण्डे द्वारा उद्धत, पूर्वोक्त, पृष्ठ 54.

(10) दया कृष्ण, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ संख्या 275-76

(11) पाण्डे, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 64.

(12) **वही**, पृष्ठ 68.

(13) वही, पृष्ठ 69-70

(14) एल्विन मूर, जूनियर तथा राम पी. कुमार स्वामी (सं.), **सिलेक्टेड लेटर्स ऑफ आनन्द के. कुमार स्वामी** (दिल्ली, इंदिरा गाँधी नेशनल सेन्टर फॉर दी आर्ट्स व ऑक्सफोर्ड का सह-प्रकाशन, 1988), पृष्ठ 342

(15) वही, पृष्ठ 344.

(16) मेथ्यू आर्नोल्ड**, कल्वर एण्ड अनार्की** (केम्ब्रिज), पृष्ठ 132.

(17) विनायक कृष्ण गोकक, "टोवर्डस ए डेफिनिशन ऑफ कल्चर" गोकक विरचित, इंडिया एण्ड वर्ल्ड कल्चर (नई दिल्ली, विकास, 1972), पृष्ठ 3.

(18) वही.

(19) वही, पृष्ठ 5.

(20) मूर व कुमार स्वामी (सं.), पूर्वोक्त, पृष्ठ 444.

(21) मार्विन ई. ऑल्सेन, दी प्रोसेस ऑफ सोशल ऑगनाईजेशन, (नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड एवं आई.बी.एच., 1968), पृष्ठ

(22) वही.

(23) वही, पृष्ठ संख्या 27-28.

(24) विद्यानिवास मिश्र, "दाम्यत दत्त दयध्वम्", मिश्र विरचित तुम चंदन हम पानी, (नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1983), पृष्ठ संख्या 5-7.

(25) एमोरी एस. बोगार्डस द्वारा दुर्खाइम के समाज विषयक कथन का उद्धरण, देखें बोगार्डस**, दी डवलपमेंट ऑफ सोशल थॉट,** (बम्बई, वकील्स, फेफर एण्ड साईमन्स, 1969, द्वितीय भारतीय पुनमुद्रण), पृष्ठ 420.

(26) मार्विन ऑल्सेन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 96.

(27) वही.

(28) टेनिसन की अभिव्यक्ति गोकक द्वारा उद्धत, देखें गोकक, पूर्वोक्त, पृष्ठ 9.

(29) आनन्द के. कुमार स्वामी, **एसेज़ इन नेशनल आईडियलिज्म**, (नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल, 1981, प्रथम भारतीय संस्करण), पृष्ठ 155.

(30) हैन्स कोहन, दी आईडिया ऑफ नेशनलिज़्म, (मेकमिलन, 1944), पृष्ठ 1०.

(31) कार्लटन जे.एस. हेयेस, दी हिस्टॉरिकल इवोल्यूशन ऑफ मॉडर्न नेशनलिज्म (आर.आर. स्मिथ, 1931), पृष्ठ 289.

(32) हैन्स जे. मॉर्गेन्थो, पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स : दी स्ट्रगल फॉर पावर एण्ड पीस, (कलकत्ता साइंटिफिक बुक एजेन्सी, 1969), पृष्ठ 321-324.

(33) **वही.**

(34) आर्नोल्ड टॉयन्बी, **ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री,** 1V, पृष्ठ 163 व 185.

(35) श्रीमन नारायण (सं.) **दी सिलेक्टैड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी,** (खण्ड छः, अहमदाबाद, नवजीवन, 1968), पृष्ठ संख्या 246-247.

(36) वही.

इकाई 2 विश्व संस्कृति के संदर्भ में भारतीय संस्कृति : अतीत एवं वर्तमान

इकाई- संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 वैचारिक परिप्रेक्ष्य

2.3.1 विश्व संस्कृति के नियामक तत्व

2.3.2 भारतीय संस्कृति की मूल अवधारणा, प्रक्रिया तथा जीवनशीलता

2.4 ऐतिहासिक संदर्भ

2.5 समसामयिक प्रसंग एवं चुनौतियां

2.6 सारांश

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.8 संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

2.1 प्रस्तावना

किसी भी संस्कृति को केवल उसके वैयक्तिक संदर्भ में ही नहीं जाना-परखा जा सकता । वास्तव में संस्कृति का रूप व उसके नियामक संदर्भ मानव-चेतना से उद्‌घाटित होते हैं, फलते-फूलते हैं और अपना स्थाई प्रभाव छोड़ते हैं । मानव चेतना अपने मूल रूप में समग्र होती है । उसे भौगोलिक खण्डों में नहीं बांटा जा सकता । साथ ही, उसे विशिष्ट काल-खण्डों में भी कैद नहीं किया जा सकता । मानव चेतना तो समग्र, सतत् प्रवाहित, सार्वभौमिक व अविभाज्य होती है । चेतना की इसी भाव-भूमि पर संस्कृति खिलती-फलती है ।

संस्कृति की इस सर्वांगता को भगवत शरण उपाध्याय ने बहु त ही सुन्दर व सटीक रूप मेंइस प्रकार प्रतिपादित किया है :

> "......... संस्कृति समान प्रयत्नों से उत्पन्न एक समान विरासत है संयुक्तऔर समन्वित प्रयासों का प्रतिफलन है । खण्ड जुड़ कर सर्वांग बनते हैं औरसर्वांग खण्डों के समाकलित नैरन्तर्य से एक इकाई बन जाता है । यह नैरन्तर्यसारे भूमण्डल पर छा जाता है।
>
> संस्कृति समस्त के लिए समस्त का योगदान है । मिश्रित समन्वित संयोग है । जल-कणों की भांति इकाइयां एक-दूसरे से जुड़ती हैं और एक प्रवाहमान जलराशि बनाती है। धाराएं जो कभी विदेशी समझी जाती थीं, उसके जलमें जा गिरती हैं और ऐसे खो जाती हैं कि पहचानी नहीं जा सकतीं ।"[1]

इसलिए यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि संस्कृति तथा समस्त सांस्कृतिक अभियान विश्व-व्यापी हैं । संस्कृति एक ऐसा संस्कार देती है, एक ऐसा विशिष्ट मानसिक निखार जिसमें जीवन में व्याप्त सभी विविधताएं गल-पक कर विश्व व्यापी एकता का समवेत स्वर बन जाती हैं । संस्कृति इसी

ऐक्य का प्रतिफलन है । आधुनिक राष्ट्र राज्यों की 'अन्तर्राष्ट्रीय चेतना' के अनुरूप संस्कृतियों की जीवन-यात्रा भी "1 x 1 x 1 x 1 x 1...... की तरह चलती है जो कुल मिला कर सदा एक बनी रहती है, अनन्य रूप से एकात्मक सर्वांग ।"[2]

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा हम यह जतलाना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति भी अपनी समस्त विशिष्टताओं के बावजूद विश्व संस्कृति का एक जीवन्त खण्ड है । विश्व-व्यापी अन्तर्निर्भरताओं से उसका व्यक्तित्व भी समृद्ध होता है । विश्व-व्यापी मानव चेतना के स्वर भारतीय संस्कृति की संगीत-रचना में भी आरोहित होते हैं और उसे रागात्मकता प्रदान करते हैं । अतएव इस इकाई में भारतीय संस्कृति को संस्कृतियों के इसी वैविध्यपूर्ण आदान-प्रदानों, 'व्यापारों' के क्रम में देखने-परखने का प्रयास किया जाएगा । आखिरकार भारतीय संस्कृति की उड़ान को कोई आकाश भी तो चाहिए । यह आकाश उसे विश्व-संस्कृति का भाव-पक्ष ही उपलब्ध करा सकता है बल्कि वास्तव में उपलब्ध कराता भी आया है ।

2.3 वैचारिक परिप्रेक्ष्य

2.3.1 विश्व संस्कृति के नियामक तत्त्व

विश्व संस्कृति के नियामक तत्वों की चर्चा से पूर्व यह जानना और समझना आवश्यक है कि संस्कृति क्या है और विश्व-संस्कृति से क्या अभिप्राय है ?

संस्कृति की दुनिया वस्तुतः "मूल्य संसाधन प्रक्रिया से उत्पन्न ज्ञान एवं अनुभव की एक प्रतीकात्मक दुनिया है।" संस्कृति एक रहस्योद्घाटन अथवा 'प्रकाशन' के रूप में व्यक्ति के मानस में अवतरित होती है और एक प्रतीक रूप में सामाजिक परम्परा का रूप ले लेती है । इस प्रकार, संस्कृति संसाधन, अनुभव, मनन, प्रतीकीकरण तथा सम्प्रेषण की एक द्वन्द्वात्मक अन्तःक्रिया है । संस्कृति की समझ के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि किसी देय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से प्रकट प्रतीकों तथा अर्थों के अन्तर्गत मानवीय आत्म-ज्ञान की आदर्श प्रक्रियाओं को समझा जाए।[3]

आदर्श प्रधान परम्पराओं (जैसे भारत) से चरितार्थ संस्कृति इस प्रकार जहां मानसिक संवेगों तथा अनुभवादि को संस्कृति का प्रधान आधार मानती है, वहीं अन्य सामाजिक परम्पराएं (जैसे भौतिकवाद) आदर्श की इस प्रधानता को उस क्रम में नहीं स्वीकार करतीं । उदाहरण के लिए मार्क्सवादी संकल्पनाओं में संस्कृति में वे समस्त "भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य समाहित हैं जो कोई समाज अपने इतिहास क्रम में विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्थाओं के सामाजिक क्रम में सृजित करता है । "इसमें भौतिक मूल्यों व प्रक्रियाओं से आध्यात्मिक संस्कृति का आधार व स्रोत निर्मित माना जाता है ।[4]

आदर्शात्मक तथा भौतिकवादी संकल्पनाओं में प्रकृतिजन्य विषमता तो बुनियादी है और उनके बीच इस आधार पर कोई मेल-मिलाप अथवा बीच- बचाव तो हो ही नहीं सकता । इसके बावजूद, संस्कृति के विश्व-व्यापी स्वरूप तथा प्रक्रिया की संकल्पना की जा सकती है । ऐसा इसलिए भी सम्भव है क्योंकि मानव जीवन की कई संकल्पनाएं प्रेरणाएं, आत्म- अनुभूतियाँ तथा जीवन-प्रसंग केवल 'स्थानीय' नहीं होते, वे वास्तव में 'सार्वभौमिक' तथा 'सर्वकालिक' होते हैं । विश्व-संस्कृति एक ओर 'स्थानीय का

समुच्चय होती है तो दूसरी ओर, अधिक महत्वपूर्ण व काल-स्थाई रूप से, वह इन 'सार्वभौमिक' तथा 'सर्वकालिक' प्रसंगों को भी अनुरक्षित करती है । इन दूसरे भावों से विश्व-चेतना तथा विश्व-प्रक्रियाओं का निर्धारण व परिमार्जन होता है । मूल्य, अनुभव, आत्मोत्कर्ष के भाव तो आदर्शवाद व भौतिकवाद दोनों में समाहित हैं । उनकी प्राप्ति का मार्ग अलग- अलग है । मार्ग की भिन्नता सार्वभौमिक सत्य को नहीं झुठलाती । वह तो उस तक पहुंचने के अनेक वैकल्पिक साधन सुलभ कराती है । विकल्पों की यह बहुलता सामाजिक-सांस्कृतिक विकास व परिपक्वता की प्रतीक है। इससे दर्शन की बहुलता तथा उनकी अन्तर्निहित एकता का बोध होता है । विश्व-संस्कृति की प्रक्रियाएं विश्व- व्यापी चेतना का पोषण करती हैं, स्थानीय विशिष्टताओं को चरितार्थ करती हैं तथा 'अनेकता में एकता' की तार्किकता को प्रतिष्ठित करती हैं । 'सौ फूल खिलने दो'[5] केवल स्थानीय आवश्यकता ही नहीं, एक सार्वभौमिक सत्य भी है। यदि यह न हो तो संस्कृति की सापेक्षता (Culture Relativity) कैसे प्रकट होगी?

संस्कृतियों में स्पन्दित सत्य के प्रकारों को यदि खोजा जाए तो उनका विश्व-व्यापी रूप-विधान कुछ इस प्रकार होगा:-

(i) कोई भी संस्कृति समग्र जीवन की चेतना विकसित करती है । इस अर्थ में कोई भी सांस्कृतिक व्यक्ति कभी भी खण्डित व्यक्तित्व नहीं होता । वह न तो अपने भीतर विभक्त होता है और न अपने विरुद्ध ही; वह आत्म-विभाजन से उबरा हुआ होता है; उसमें कर्म तथा मनन दोनों का समावेश होता है।[6] जीवन की समग्रता विभाजनों के समायोजन के उपरान्त प्रकट होती है और संस्कृति यह समायोजन सुलभ कराती है । अत: विश्व-संस्कृति व्यक्ति की समस्त इन्द्रियों तथा क्षमताओं के संतुलित-सद्भावपूर्ण समावेश का आग्रह करती है । बुद्धि तथा भाव अन्त:प्रज्ञा तथा ऐन्द्रिक बोध, शरीर तथा आत्मा- सभी तत्त्व संयोजित होकर व्यक्ति की रचना करते हैं । ऐसे व्यक्ति का जीवन 'सांस्कृतिक जीवन' होता है और वह जीवन एक अलौकिक 'लय- ताल' पर चलता हुआ समस्त जीवन व उसकी क्रियाओं को रागात्मकता प्रदान करता है । कोई भी संस्कृति कभी भी अधूरे जीवन की संकल्पना नहीं करती । अधूरापन तो संस्कृति से दूरी तथा समग्र सांस्कृतिक चेतना के अभाव का परिचायक होता है;

(ii) समग्र जीवन का अर्थ है आध्यात्मिक व भौतिकवादी तत्वों में परस्पर समन्वय । अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान के बावजूद यह सोचना ही हास्यास्पद होगा कि भारत की संस्कृति में भौतिकता का अभाव है और मार्क्सवादी संस्कृति से आध्यात्मिक तत्व विलुप्त हैं । यदि ऐसा हो तो समग्रता व भरे-पूरे जीवन का क्या आशय रह जाएगा? संस्कृतियों से प्रेरित साहित्य, कलाएं, जीवन-दर्शन आदि कैसे फल-फूल सकेंगे? अत: सांस्कृतिक चेतना से समृद्ध व्यक्ति सार्वभौमिक तथा विशिष्ट जीवन प्रसंगों को समायोजित करता है । वह काल-विशेष के दावों तथा सनातनता के बीच सेतु-निर्माण करता है ।[7] केवल उसी स्थिति में जीवन स्वस्थ व परिपूर्ण हो पाता है;

(iii) विभिन्न संस्कृतियां जीवन की इस वास्तविकता के प्रति प्राय: समान रूप से संवेदनशील हैं कि संस्कृति का विकास एक सुनिश्चित भौतिकवादी आधार पर ही सम्भव है । रोजी- रोटी और रोजमर्रा की जरूरतों का मोहताज कोई भी व्यक्ति अथवा वर्ग संस्कृति की परवाह या सिर्फ उससे गुजर कर ही नहीं जी सकता । उत्तरजीविता की शर्तें पूरी होने के बाद ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास अथवा संस्कृति के निखार की बात सोच सकता है;

(iv) जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के क्रम में ही वह अद्‌यम करता है । विविध उत्पादन-प्रक्रियाओं से जुड़ कर वह अपने श्रम से समाज को सम्पदाएं सुलभ कराता है । संस्कृति इस उत्पादन- प्रक्रिया में उसकी सतत सहभागी होती है । क्या आपने अपने देश में किसान को अपनी भूमि पर पैर रखने से पहल उसकी रज माथे पर लगाते नहीं देखा है? क्या बीज बीते और खलिहान में काम करते किसान और उसके परिवार के लोग पारम्परिक गीत आदि गाते नहीं दिखाई देते? क्या फसल पकने के बाद के पर्व भारतीय जीवन की वास्तविकताओं का बोध नहीं कराते? सच तो यह है कि संस्कृति अपनी सहज उपस्थिति से उत्पादन प्रक्रिया में निहित यांत्रिकता को तोड़ती है और उत्पादन-प्रक्रिया सरस होते हुए वास्तविक जीवन का एक अंग बन जाती है;

(v) उत्पादन के उपरान्त व्यापार भी, चाहे वह आन्तरिक हो या अन्तर्राष्ट्रीय (अन्तर्राज्यीय), संस्कृति व उसकी चेतना से प्रभावित होता है । हर समाज में व्यापारिक सम्पन्नता के सांस्कृतिक प्रतीक विद्‌यमान हैं । हर समाज सांस्कृतिक आदर्श के रूप में मुनाफा तो चाहता है लेकिन निर्मम मुनाफे की कभी इजाजत नहीं देता । हर समाज 'सेल्समैनशिप' के सुनिश्चित आचार निर्धारित करता है। उत्पादों की गुणात्मक आश्वस्ति व्यापार का एक सर्व स्वीकृत मानक है । यह सब संस्कृति व संस्कृतिजन्य जीवन-शैली से सम्भव हो पाता है । इनके अपवाद तथा अवमाननाएं अवश्य दिखाई देती हैं लेकिन वे अल्पकालिक, दिकभ्रामक तथा स्वीकृत मानकों से गिरावट का संकेत होती हैं । उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा किसी भी समाज में नहीं मिलती । आखिरकार कौन सी संस्कृति बेईमानी का महिमागान कर सकती है? वस्तुतः बेईमानी भी ईमानदारी के छद्म-रूप में आती है जो सांस्कृतिक मानकों की सार्वभौमिकता तथा सनातनता की ही दुहाई देती है;

(vi) संस्कृति राज्य-शिल्प का भी परिमार्जन करती है । भारत में चाहे कुमारस्वामी हों या पश्चिम में हेन्नाह एरेन्डट, दुनिया में राज्य-व्यवस्थाओं में निहित शक्ति को सौम्य बनाने का आग्रह सभी करते आए हैं। राजनीतिक शक्ति से 'अच्छाई की राजनीति' पनपे, यह सभी का अभीष्ट रहा है; शक्ति की निरंकुशता कैसे परिसीमित हो, यह सभी का प्रयत्न रहा है । भारत में तो राजा से गर्भिणी स्त्री के से आचरण द्‌वारा प्रजा- रंजन की अपेक्षा की जाती थी । जैसे ऐसी स्त्री अपना ख्याल न करते हुए सदैव नवांगतुक शिशु के कल्याण की ही सोचती है, वैसे ही राजा अपनी न सोच कर सब के कल्याण निमित्त ही कार्य करे, ऐसी अपेक्षा उससे की जाती थी । भारतीय मनीषा में प्रकट राजर्षि तथा प्लेटो की रिपब्लिक में प्रस्तुत दार्शनिक- राजा राज्य को साधन समझ कर वृहत्तर, सांस्कृतिक सत्ता के प्रति ही समर्पित थे । यह समझ हर समाज को संस्कृति से ही प्राप्त होती है। उसकी अवज्ञा राजनीति को बेलगाम कर देती है । बेलगाम राजनीति न तो समाज चला सकती है और न 'अपने को ही बचा सकती है;

(vii) संस्कृति के परिवेश में कला, साहित्य, शिल्प आदि सभी विकसित होते हैं । संस्कृति कीं पहुंच का पैमाना ही ये विकसित कलाएं होती हैं । भारत में यदि गुप्तकाल को 'स्वर्ण युग' कहा जाता है तो वह इसलिए नहीं कि यहां उस काल में केवल भौतिक सम्पदा की प्रचुरता थी । वह तो थी ही । वह स्वर्ण युग इसलिए है क्योंकि उस काल में महाकवि कालिदास और उनकी महान सृजनात्मक प्रतिभा विद्‌यमान थी । राजा जितने पराक्रमी थे, वे उतने ही 'कला-संरक्षक' भी थे। राज्य- विकास में कलाओं का विकास अपने आप प्रतिष्ठित था । पश्चिम में ऐथेन्स की हेलेनिक

परम्परा उतनी ही संस्कृतिनिष्ठ थी जितना कि भारतीय गुप्त-काल । परवर्ती काल में पुनर्जागरण के युग में एक बार फिर संस्कृति का उत्कर्ष तत्कालीन कला व साहित्य में परिलक्षित होता है। आज अफ्रीकी- एशियाई कलाओं व साहित्य की बढ़ती अन्तर्राष्ट्रीय साख वहां की परिपक्व होती संस्कृति की सूचक है । वस्तुत: कोई भी देश अथवा काल इस वास्तविकता का अपवाद नहीं है। यह सामान्य धारणा संस्कृति के विकास की नकारात्मक अनुपस्थिति से भी चरितार्थ होती है;

(viii) विज्ञान व प्रौद्योगिकी सदैव संस्कृति का 'यथार्थपरक मर्म' रहे हैं । प्रौद्योगिकी सांस्कृतिक विकास की कुंजी है । इन दोनों से वह स्थिति परिभाषित और निर्धारित होती है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने साध्य गढ़ते हैं और उनका संसाधन करते हैं ।[8] यहां यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि वैज्ञानिक ज्ञान व तथ्य जहां सार्वभौमिक हैं, वहीं उनका प्रायोगिक संदर्भ सदैव संस्कृति सापेक्ष होता है । इस अर्थ में विज्ञान व प्रौद्योगिकी को वस्तुत: मानव संस्कृति का भाग्य- नियामक नहीं माना जा सकता । उनके क्रम में तो भौतिक सुरक्षा, संसाधनों की प्रचुरता, आराम, फुर्सत आदि उपलब्ध होते हैं । हर संस्कृति में भौतिक मूल्य सदैव समान नहीं होता । यह सम्भव है कि कुछ संस्कृतियां, प्रौद्योगिकी पर अधिक निर्भर हों और उस क्रम में भौतिक मूल्य की वहां प्रधानता हो जबकि कुछ संस्कृतियां भौतिक मूल्य पर कम अवलम्बित हों और उस सांस्कृतिक परिवेश में वहां विज्ञान व प्रौद्योगिकी की प्रयोगात्मक महत्ता का कम प्रचलन हो । फिर भी हर संस्कृति में विज्ञान व प्रौद्योगिकी का न्यूनाधिक समावेश तो होता ही है । इस अर्थ में ये तत्त्व स्वयं में एक सार्वदेशिक श्रेणी के रूप में प्रतिष्ठित हैं ।

दुनिया की संस्कृतियों में सतत् कार्यशील ये तत्व उन्हें उनकी जीवंतता प्रदान करते हैं । इन तत्त्वों के संयोजन से विश्व- संस्कृति का रूप-विधान तथा प्रक्रियाओं का निर्धारण होता है । काल के प्रति चेतना, अनन्तता के प्रति संवेदनशीलता, सार्वभौमिकता के साथ संदर्भ- वैशिष्ट्य के प्रति सहज समर्पण, समग्र जीवन के लिए आवश्यक जीवन-संतुलन के प्रति प्रबल आग्रह तथा विश्व-व्यापी मानवता की गरिमा तथा विविध मानवीय प्रतिभाओं के सहज विकास की स्थितियों का सतत् अनुरक्षण व प्रोत्साहन विश्व- संस्कृति के कुछ अभिज्ञेय लक्षण हैं । इनकी उपलब्धि एक सतत् परम्परा के रूप में करने के लिए विश्व-संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक स्थाई व व्यापक विचारों, दर्शन-प्रकारों आदि को अपने रूप- विधान में स्थान देती है । ये वो तत्व हैं जिन्हें आनन्द कुमारस्वामी ने 'फिलॉसोफिया पेरेनीज़' की संज्ञा दी है ।[9]

2.3.2 भारतीय संस्कृति की मूल अवधारणा, प्रक्रिया तथा जीवनशीलता

भारतीय मनीषा में संस्कृति पर सदैव प्रगाढ़ चर्चा व मनन होता आया है । संस्कृति के केन्द्र में 'संस्कार' विद्यमान होते हैं । संस्कारों से भूषित होकर संस्कृति तक पहुंचा जाता है । दूसरे शब्दों में, विश्व संस्कृति के संदर्भ में भारतीय संस्कृति: अतीत एवं वर्तमान संस्कार व्यक्ति के ऐसे आभूषण हैं जो उसके व्यक्तित्व को अलंकृत करते हैं और जिनकी चमक व मानव-विवेक व विवेकयुक्त आचरण से परिलक्षित होते हैं । विवेक व विवेकयुक्त आचरण के युग्म (जोड़े) की परिणिति संस्कृति में होती है । संस्कार दो प्रकार के होते हैं ।[10]- **मलापनयन तथा अतिशयाधान** । सरल शब्दों में, मलापनयन मैल साफ करने की क्रिया है जिससे कि मौलिक चमक फिर से दिखाई देने लगे । आप दर्पण पर पड़ी-जमी धूल की पते जब तक नहीं साफ करते, उसमें अपने आप को प्रतिबिम्बित नहीं पा सकते । दर्पण तब

तक दर्पण होता नहीं जब तक कि वह आपको प्रतिबिम्बित न करें। आपका नैसर्गिक गुण आपकी मौलिक व स्वाभाविक विशेषताएं प्रकट कर सके, आप अपनी 'असलियत' उजागर करें, इसके लिए जरूरी है कि आपका मलापनयन संस्कार हो। अतिशयाधान किसी वस्तु से मल साफ करने, चमकाने के उपरान्त उसको तैल व रंग की मदद से और अधिक सुन्दर व आकर्षक बनाने की क्रिया है, जैसे हाथी को नहला-धुला कर उसके मस्तकादि पर तैल व रंग से सौन्दर्य परक सजावट करना या किसी काठ की वस्तु पर पॉलिश करके उसको अधिक चमकीला बनाना। तो ये दोनों संस्कार मिल कर व्यक्ति को न केवल निर्मल करते हैं बल्कि उसे उसका नैसर्गिक सौन्दर्य उपलब्ध कराते हैं। हीरा जब तक साफ न किया जाए, उसे चमकाया न जाए, उस पर पॉलिश न हो तब तक उसकी आन्तरिक चमक किसी को चकाचौंध नहीं कर पाती। इसी प्रकार व्यक्ति की नैसर्गिक प्रतिभा व चमक संस्कारों से प्राप्त होती है। कुछ साधनायुक्त कर्मों द्वारा व्यक्ति अपनी अविद्या तथा पाप आदि का अपनायन करता है (अविद्या व पाप मल सदृश हैं) तथा कुछ द्वारा विद्या व पवित्रता जैसे अतिशय गुणों का आधान। इनसे सम्यक् संस्कार प्रकट होते हैं। ऐसे संस्कारों से परिशुद्ध व्यक्ति संस्कृति की ओर मुड़ता है और उस दिशा में अपना निर्दिष्ट योगदान देता है। अत: बिना संस्कार के संस्कृति की कल्पना बेमानी है।

संस्कृति क्या है? भारतीय मनीषा के अनुसार उपरोक्त वर्णित संस्कारों के अनुरूप आचार-व्यवहार, कृत्य व तदुपरांत उपलब्ध कृति ही संस्कृति है। यह कृति समग्र जीवन का समर्पित है, उसे सुन्दर व आभूषणशील बनाती है। संस्कृति के अन्तर्गत दैहिक (देह सम्बन्धी) तथा आत्मिक विकास होता है, मन, बुद्धि, अहंकार आदि परिशुद्ध होते हैं। इस परिशुद्धता से जीवन सतत् उत्कर्ष की सीढ़ियां चढ़ता हुआ आत्म-ज्ञान की ओर उन्मुख होता है। क्योंकि आत्म-ज्ञान एक अनवरत चेष्टा है, इसलिए संस्कृति की भी अविरल धारा बहती रहती है। उस धारा के साथ, उसमें से होकर, सतत् परिशुद्ध होते हुए जीवन अच्छे से अच्छा, बेहतर से बेहतर होते जाने का एक अमिट सिलसिला है। जीवन की यह यात्रा 'आत्म-चेतना'[11] की सवारी पर तय की जाती है और इस यात्रा में जो भी जीवन-प्रसंग 'पडाव' के रूप में उपस्थित होते हैं (जैसे- परिवार, समाज, राज्य, सरकार, धर्म, नीति, शील, पुरुषार्थ आदि) उनका उस संदर्भ में भरपूर आनन्द उठाया जाता है और आत्म-तृप्ति के बोध के बाद यात्रा फिर शुरू हो जाती है (उसी आत्म-चेतना की सवारी पर) अगले पड़ाव के लिए। यह सिलसिला हमेशा चलता रहता है। शर्त केवल यह है कि कहीं यह सवारी न छूट जाए। आत्म- चेतना से उतरे नहीं कि जीवन में ठहराव आ जाएगा और जीवन-यात्रा भंग हो जाएगी। दूसरे शब्दों में, संस्कृति से सारे सम्पर्क सूत्र बिखर जाएंगे। भारतीय सामाजिक-ऐतिहासिक क्रम में ऐसा अवरोध एकाधिक बार बहुत लम्बे समय तक प्रकट हुआ है। विकल्प के रूप में संस्कृति के बिखरे सूत्रों का संकलन किया गया, आत्म की पुनर्खोज (Re-discovery of the Self) हुई और इस आधार पर अखण्ड-चेतना का आधान किया गया।

संस्कारों से उपयुक्त रूप से संयोजित भारतीय संस्कृति एक अखण्ड जीवन, अखण्ड चेतना तथा अखण्ड सत्ता का निरूपण करती है। स्पष्ट है कि संस्कृतिशील इस जीवन-शैली में संकीर्णता क्षुद्रता तथा स्वार्थ-परायणता का कहीं कोई स्थान नहीं है। इसीलिए उदार, सहिष्णु तथा सर्जनशील मनोभाव परस्पर मिल कर वह भावभूमि तैयार करते हैं। जिनमें रस-पग कर व्यक्ति स्वयं अपना क्रमिक अतिक्रमण करते हुए विश्व-चेतना को सम्बोधित होता जाता है, देश काल की सभी सीमाएं और बंधन चेतना की तलवार से टूटने लगते हैं और विश्व-चेतना के अधिकाधिक प्रशस्त आलोक में वह

विश्व-संस्कृति का सहभागी हो जाता है, विश्वधर्मिता उसका निजी धर्म बन जाती है । चेतना के धरातल पर वह 'एक' होता हुआ भी 'सर्वस्व' बन जाता है- बूंद महासागर हो जाती है और ओस के प्रत्येक कण में एक समूचा सूर्य प्रतिबिम्बित होने लगता है । तब साहित्य 'सबका हित' साधने का उपक्रम होता है, कला काल से जुड़कर और फिर उसका अतिक्रमण करते हुए कालातीत हो जाती है और साहित्य व कलाओं का लालित्य समूचे विश्व को सम्मोहित करता है । कालिदास, शेक्सपियर, रविन्द्रनाथ ठाकुर, कीट्स व शैली सरीखे सृजनकार कालातीत चेतना व प्रतिभा के उदाहरण हैं । वे विश्व-संस्कृति के सृजनशील सहभागी हैं । भारतीय साहित्य व कलाएं अपने इस रूप में विश्व-संस्कृति को चिरस्थाई आधार पर समृद्ध करती आई हैं । उनमें भारतीय चेतना के साथ विश्व-चेतना एकाकार दिखाई देती हैं । इन समस्त लौकिक संदर्भो की विस्तृत चर्चा 'ऐतिहासिक संदर्भ' सम्बन्धी खण्ड में की जाएगी ।

4. ऐतिहासिक संदर्भ

पाठ के इस खण्ड में इस बात पर बल दिया जाएगा कि संस्कृतियां परस्पर अवलम्बित (एक दूसरे पर टिकी हुई) हैं । इतिहास सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त इस अन्तरावलम्बन (एक दूसरे पर निर्भरता) का सतत् साक्षी रहा है । कहीं-कहीं तो यह निर्भरता व उससे प्रकट प्रभाव इतना स्वाभाविक रहा है कि उसके आने और रस-बस जाने का आभास तक नहीं हो पाता । भारतीय संस्कृति व जीवन-धारा में विश्व-सभ्यताओं व संस्कृतियों का यह योगदान अत्यधिक प्रामाणिक तथा स्थाई है । आचार-व्यवहार के स्कूल संदर्भ से लेकर साहित्य, कला, दर्शन जैसे सूक्ष्म परिप्रेक्ष्य में इसका प्रचलन स्वत: स्पष्ट है । भगवतशरण उपाध्याय ने अपनी कृतियों भारतीय संस्कृति के स्रोत तथा भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण में इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अनेक साक्ष्य समायोजित किए हैं ।[12]

वेशभूषा व खान-पान के परिवेश में परस्पर अन्तरावलम्बन इस बात से सिद्ध होता है कि "वह सारी भारतीय वेशभूषा जो आज राष्ट्रीय कही जाती है, वास्तव में अभारतीय है और भारतीय इतिहास के विविध आक्रामकों की देन है ।"[13] अचकन जो मुगल नवाबों द्वारा आधुनिक रूप में लाई गई, वस्तुत: पहली सदी ईस्वी के दौरान कुषाणों ने भारत में प्रचलित की । यही अंगरखा या अचकन मध्य-एशियाई 'चोगा' है जो रोमन चोगा का भाषा तथा आकार में रूपान्तरण है । भारतीय कुर्ता हिन्दू-ग्रीक सम्पर्क का परिणाम है । स्वयं कुर्ता 'कुरता' के भाषाई संदर्भ में तुर्की जबान की व्युत्पति प्रतीत होती है क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या उनके किसी अपभ्रंश से यह व्युत्पति प्रमाणित नहीं होती । इसी प्रकार, पाजामा भी मूलतः कुषाणों की देन है जिसे मुसलमानों ने उसका आधुनिक प्रचलित रूप दिया और तो और स्वयं 'गांधी-टोपी' कुछ तो मध्यकालीन पुर्तगालियों की टोपी के अनुरूप है और कुछ प्राचीन मिस्रियों तथा खत्ती व्यापारियों की जिन्होंने कभी भारत के पश्चिमी तट पर व्यापार किया था ।[14] नारी- आभूषण में प्रयुक्त 'नथ' न तो संस्कृत का शब्द है और न ही भारतीय मूर्ति शिल्प में उसका व्यवहार हुआ है । उपाध्याय के अनुसार, इसका सम्बन्ध अरबी के 'नाकिल' से है जो हिन्दू-उर्दू में 'नकेल' बन गया ।[15] नकेल, यह सर्वविदित है, वह रस्सी है जिससे मनुष्य अपने पालतू पशु की नाक नथ कर उसे अपने साथ ले चलता है । नारी-संदर्भ में नथ उतारना अथवा सुहाग-चिह्न के रूप में नथ नारियों पर पुरुष-प्रभुता का प्रतीक है ।[16] यह प्रभुता भी प्राय: समस्त प्राचीन संस्कृतियों में समान रूप से व्याप्त रही है ।

भारतीय दैनंदिन जीवन में रसोई की शुचिता का एक प्रमुख स्थान है । उसमें बाहरी व्यक्तियों का प्रवेश वर्जित रहा है। परिवार- जन भी कुछ सुनिश्चित प्रकार से ही उसमें प्रवेश पा सकते थे । शुचिता का यह भाव अनेक परम्पराशील परिवारों में आज भी विद्यमान है । ऐसे परिवेश में कोई मुसलमानी दखलंदाजी की बात विस्मयकारी ही नहीं, रोषकारी भी होगी परन्तु यह सच्चाई है कि 'रोटी' बेगानी है । यह न तो संस्कृत शब्द है, न प्राकृत और न ही कोई अपभ्रंश ।[17] रोटी को सभी भारतीय भाषाओं ने यथावत अपना लिया है । रोटी वस्तुत: मुगलों की देन है । और तवा? 'तवा' खुद भारतीय शब्द नहीं है। तो पंडितों का 'कच्चा खाना' ('खाना' खुद संस्कृत शब्द नहीं है) मुगल योगदानों से मिल कर तैयार हुआ है ।

भारतीय कला पर भी ईरानी, यूनानी प्रभाव पर्याप्त रूप से प्रकट थे । अशोक का शासन-काल प्राचीन भारतीय कला की पराकाष्ठा माना जाता है परन्तु अशोक-काल तथा मोहनजोदड़ो की सैंधव-सभ्यता के बीच तो काफी लम्बा अन्तराल रहा है (लगभग 2 सहस्त्र वर्षों का) तो लगभग तीसरी सदी ई. में पराकाष्ठा पर पहुंची मौर्यकालीन भारतीय कला किन प्रभावों को परिलक्षित करती है? अशोक स्तम्भों पर उपलब्ध "सपक्ष सिंहों का आकार तथा "सांड प्रभूत आकृति" "साम्राज्यकालीन ईरानी कला की विशेषताएं थीं जो अशोक के शीघ्र पूर्ववर्ती थे । कुछ आश्चर्य नहीं यदि अशोक ने स्तम्भ-निर्माण की कला ईरानियों से पायी हो । कारण कि उससे पहले का एक भी स्तम्भ भारत में नहीं मिलता । यह भी विचारणीय है कि शिला तथा स्तम्भों पर अभिलेख और उनकी इबारत के शुरू में 'देवताओं का राजा ऐसा कहता है' कि शैली सर्वथा ईरानी है ।[18] परवर्ती काल में विकसित भारतीय मूर्तिकला और उसमें भी सुविख्यात गांधार-शैली यूनानी प्रभाव का स्पष्ट आभास देती है । "हजारों ग्रीक आकृति की मूर्तियां जो आज अफगानिस्तान, सीमाप्रांत, पंजाब आदि में पायी गई हैं, और काबुल, पेशावर, लाहौर, मथुरा आदि संग्रहालयों में संरक्षित हैं, इसी ग्रीक छेनी का महत्व प्रदर्शित करती हैं । इसी प्रकार सिक्के ढालने की प्रणाली में भी ग्रीकों ने अद्भुत परिवर्तन किये... तीन-तीन, चार-चार सदियों में जातियों के संक्रमण और मिश्रण तथा विजेताओं के परिवर्तन होता गया है । कई बार तो ऐसा जान पड़ता है कि कुछ-कुछ अन्तर पर संसार के सारे देशों के सिक्के समान रूप रखते हैं, आकार में, वजन में, ढलाव में, अभिलेख में, उन पर मुद्रित आकृतियों में । प्रमाणत: यह संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन का परिणाम है ।"[19]

इसी प्रकार, नाट्यकला पर भी, पर्याप्त यूनानी (यवन) प्रभाव परिलक्षित होता है । उदाहरणार्थ, नाट्यकला में प्रयुक्त 'यवनिका' (पर्दा) उसके ग्रीक मूल की उद्घोषणा करता है । ऐसे और भी अनेक उदाहरण ढूंढे और बताए जा सकते हैं।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र भी संस्कृतियों के पारस्परिक अन्तरावलम्बन की सत्यता प्रमाणित करते हैं । प्राय: प्रत्येक संस्कृति में सूर्य की उपासना प्रचलित थी । दक्षिण यूरोप के देश भी इसका अपवाद नहीं थे । इसी प्रकार, पशु-पक्षियों, वृक्षों, नदियों आदि का अर्चनाक्रम भी प्रत्येक धर्म में विद्यमान था । 'सुर-असुर' अथवा 'गुड-ईविल' शक्तियों के सतत् संघर्ष का भाव भी प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है । "सारे मध्य-एशिया में, संभवत: दक्षिणी यूरोप के देशों में भी, पूर्व में सिन्धु तक, कभी मातृ-देवी की पूजा किसी न किसी रूप में होती थी ।"[20] गणचिह्नवाद (Totemism)

प्राय: सभी देशों के प्राचीन निवासियों में व्याप्त था और वे अपने शरीरों पर विविध आकृतियां चित्रित करते थे ।

दर्शन के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय व यूनानी दर्शन-प्रणालियों में गम्भीर साम्य परिलक्षित हुआ है । प्राय: यह माना जाता है कि प्लेटो के दर्शन पर पर्याप्त भारतीय प्रभाव व्याप्त था । उसका 'डाइकेसून' वस्तुत: भारतीय 'धर्म' है । इसी प्रकार 'दार्शनिक राजा' की प्लेटोवादी अवधारणा भारतीय 'राजर्षि' अवधारणा के काफी समान है । उपनिषद यदि ईश्वर को 'अनिर्वचनीय' ठहराते हैं तो इस्लाम में भी ईश्वर को अनिवार्यत: 'अज्ञेय' माना गया है ।[21] सच्चे ज्ञान की अपरिहार्यता उपनिषद की ही भांति इस्लाम में भी प्रतिपादित है :

"ज्ञान अर्जित करो, इससे तुम्हें सही और गलत में भेद करने की क्षमता प्राप्त होगी, यह स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त (प्रकाशित) करेगा, मरूस्थल में य तुम्हारा मित्र होगा, अकेलेपन में यह तुम्हारा 'संगी-साथी' होगा, एकान्त मे तुम्हारा सहचर सुख की दिशा में तुम्हारा पथ-प्रदर्शक, दुःख में ढांढस बंधाने वाला, तुम्हारे मित्रों के बीच चमकता आभूषण तथा दुश्मनों के विरूद्ध यह तुम्हारा रक्षा-कवच होगा ।'

(स्वतंत्र अनुवाद)

ज्ञान के प्रति प्रबल आग्रह, ईश्वर व सृष्टि के प्रति सहज समर्पण तथा अपने कर्तव्य-पालन का प्रतिष्ठित भाव भारतीय, इस्लामी तथा यूनानी दर्शनों को न केवल परस्पर जोड़ते हैं बल्कि उन सभी में एक ऐसा समवेत स्वर संयोजित करते हैं जिसमें सृष्टि में व्याप्त सद्भाव, राज्य का साधनात्मक मूल्य व दर्जा तथा विराट आध्यात्मिक सत्ता सहज उद्घाटित होते हैं ।

साहित्य की दुनिया में तो देश, काल, विशिष्ट सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ कोई विशेष अर्थवत्ता नहीं रखते । उत्कृष्ट साहित्य तो सार्वभौमिक चेतना से प्रेरित होकर विविध जीवन-प्रसंगों की सर्जना करता है, जीवन को अखण्डित व समग्र बनाने का उपक्रम करता है तथा जीवन की स्थितियों के प्रति स्वस्थ-सोद्देश्यात्मक विकल्प संयोजित करता है । अपने इस सृजनशील उपक्रम में वह देश-काल की सीमाएं कब लांघ जाता है, पता ही नहीं चल पाता । भारत में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द तथा विदेशी साहित्यों के कालस्थायी रचनाकार जैसे शेक्सपियर, होमर, एलिएट, गोथे, टॉल्स्टाय, दोस्तोवस्की आदि किसी देश- विशेष के रचनाकार नहीं बल्कि विराट मानव चेतना का समर्पित रचनाकार हैं । वे अपनी पृथक राष्ट्रीयताओं के परे 'वास्तव में शब्दों के विश्व गणराज्य' (Republic of Letters) के प्रतिष्ठित 'नागरिक' हैं ।[23] अपनी इस सृजन धर्मिता से युक्त होकर यह गणराज्य काल के अग्र व पृष्ठ भागों तथा आकाश में एक साथ सर्वत्र व्याप्त है ।[24] विश्व-संस्कृति के उदान्त भाव तथा मानव जीवन प्रसंग ऐसे ही साहित्य में आकर व अभिव्यक्ति पाते हैं।

वैचारिक, भाव-प्रधान जीवन-प्रसंगों के अतिरिक्त व्यापार, सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ आदि भी विश्व-संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्क व अन्तरावलम्बन की पुष्टि करते हैं । "प्रागैतिहासिक मिस्त्र की छोटी सी सुदूर दुनिया अपने लिए तांबा सुमेरिया के बाजारों में खरीदती थी और मोहनजोदड़ो की मुहरें ऊर और कीश में बिकती थी । अरारात और तारसुस से कारवां समार्रा पार कर येरूसलम और थीबिज पहुंचते थे और एंलियोख और दमिश्क से चलने वाले कारवां घाटियों से गुजरते हुए सूसा और एकबताना पार करते, हिन्दुकुश की पर्वत श्रृंखलाओं तथा चोटियों को लांघते पाटलीपुत्र पहुंचते, और

उज्जैन में खत्म होते थे । स्पेन की मदिरा शंघाई के गोदामों में भरी होती थी और केरल की काली मिर्च के बदले विसिगोथ एलारिक ने अमर नगर रोम की जान बख्शी थी । फीनिशियनों की हुण्डी और लेन- देन प्रणाली हमारे आज के लेन-देन को निर्धारित और आश्वस्त करती हैं और कार्थेज, सोदोम तथा तीर में ढाले सिक्के आज भी हमारी मुद्रा-व्यवस्था का रूप-निर्धारण कर रहे हें! प्राचीनतर चित्राक्षरों से उभरे सुमेरी प्रतीकाक्षर देश-काल की लड़ से उभर कर हमारी आज की वर्णमाला के रूप में प्रस्फुटित हुए ।"[25]

ऐतिहासिक संदर्भ की इस चर्चा को निष्कर्ष तक पहुंचाते हुए यह मत प्रतिपादित किया जा सकता है कि भारतीय संस्कृति तथा विश्व संस्कृति एक- दूसरे से प्रगाढ़ रूप से जुड़े हुए हैं । किसी भी विकसित संस्कृति के फल से भावी विश्व- विकास का बीज मिलता है, उस बीज के आरोपण से विकास- वृक्ष पल्लवित होता है और उससे प्राप्त फल उस संस्कृति तथा अन्य संस्कृतियों को सहज प्रभावित करते हैं । प्रश्न बीज अथवा वृक्ष की प्रधानता का नहीं है । प्रश्न है परस्पर निर्भरता से उत्पन्न उस उत्पादन प्रक्रिया का जिसके अन्तर्गत संस्कृतियां एक दूसरे के हाथ में हाथ डाले विकास की मंजिले तय करती हैं । कोई भी संस्कृति और उस मायने में कोई भी इतिहास 'राष्ट्रीय' नहीं होता क्योंकि स्वयं 'राष्ट्र' दुनिया के मेले में अकेला नहीं है, वह अनेक ऐसे तात्कालिक प्रभावों के अधीन है जो उसे उसका अनिवार्य अभिज्ञान (Identity) उपलब्ध कराते हैं । यह एक विराट सांस्कृतिक- ऐतिहासिक सत्य है । इस सत्य को उद्घाटित करते हुए भगवतशरण उपाध्याय ने यह स्पष्ट किया कि-

"जब भारत ने चीनी तीर्थयात्रियों को वे अमूल्य हस्तलिखित ग्रंथ दिये जिनकी चीन में नवदीक्षितों को दिये जाने के लिए प्रतिलिपियां तैयार की जाती थीं, तब एक चमत्कार घट गया और तब बुद्ध के उपदेशों भरे उन ग्रंथों के प्रचार के लिए कागज के साथ ब्लाक बना कर छपाई का आविष्कारहुआ, उधर कोरिया में टाइप बने जिनको जापान ने पूर्णता दी । कागज औरछापेखाने ने यूरोप की यात्रा की....... इन आविष्कारों ने बाइबिल के स्थानीयभाषानुवाद प्रस्तुत और प्रसारित करने में सहायता की जिसकी सुधार(रिफार्मेशन) आन्दोलन के लिए गहरी आवश्यकता थी । चीनी ज्ञान, भारतीयगणित और आयुर्वेद तथा यूनानी दर्शन के अध्ययन दमिश्क और बगदाद केबैतुल-हिकमा में संरक्षित और अनूदित होकर अरबों द्वारा यूरोप के मानवतावादीऔर ईसाई विरोधी ग्रीससमंत 'पेगन' समाजों में पहुंचाये गये । नाविकों केकुतुबनुमा (कम्पास) के अद्भुत परिणाम उस समय दोहराये गये जब चीन मेंबनी बारूद का उपयोग इंग्लैण्ड के बादशाह हेनरी सप्तम् ने अपने बैरनों केकिला और सत्ता तोड़ने के लिए किया । वह दानूब और सावा के युद्ध-क्षेत्रोंमें उतनी ही निर्णयकारी सिद्ध हुई जितनी खानवा में । वास्तव में चीन कीचाय, लातिनी अमरीका की तम्बाकू, बेबिलोनियां के ग्रह-चिह्न, कोन्जान्तीनद्वारा आविष्कृत ग्रहनामी सप्ताह का कलेण्डर सारी दुनिया में फैले । विज्ञानोंके उदय और प्रसार के साथ उनसे विचारों की उस प्रगति के चरण-चिह्नमिलते हैं जो विश्व-व्यापी हो गए हैं।"[26]

कालांतर में विकसित औद्योगिक क्रांति, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन व नवोदित राष्ट्रों का उदय- ये समस्त प्रवृत्तियां तथा घटनाक्रम विश्व-व्यापी प्रभाव परिलक्षित करते आए हैं । उनके इस क्रम से राष्ट्रीय तथा विश्व-संस्कृति भी यथेष्ट प्रभावित रहे हैं । भारत व भारतीय संस्कृति भी इसका अपवाद नहीं है ।

2.5 समसामयिक प्रसंग एवं चुनौतियां

आज के संदर्भ में भारतीय संस्कृति तथा स्वयं विश्व-संस्कृति कुछ ऐसे प्रसंगों एवं चुनौतियों से घिरी हुई हैं जिन्होंने संस्कृतियों की उपादेयता तथा जीवन की स्थापित सम्पन्नता पर आघात किया है । इन प्रसंगों व चुनौतियों का उल्लेख आवश्यक है ।

वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांतियों ने जहां दुनिया को सिमटा कर एक कर दिया है, वहीं सूचना व ज्ञान के विश्व व्यापी प्रसार ने जीवन की विविधताओं व संस्कृतियों की विशिष्टताओं को कठोर चुनौती प्रदान की है । संस्कृति की स्वायत्तता[25] छिपती जा रही है और जीवन की समग्रता को ग्रहण सा लग गया है । विश्व व्यापी उपभोक्तावाद का प्रबल आकर्षण नित नई आवश्यकताएं तो पैदा कर रहा है और हर आवश्यकता के संसाधन के लिए अनेक समरूपी उत्पादों की 'विज्ञापन-लडा़ई' तो संयोजित कर रहा है परन्तु उसकी चकाचौंध ने वास्तविक आवश्यकताओं तथा सृजित आवश्यकताओं के भेद को विलुप्त सा कर दिया है, उनके रहते अब 'वांछित तथा वांछनीय' (Desired and Desirable) का विवेकयुक्त विकल्प खो सा गया है । जीवन से मानव-विकल्पों के इस अभाव ने मानव का और उसके सांस्कृतिक आदान-प्रदानों व अभियानों को सर्वाधिक चोट पहुंचाई है । फलत: मानव की ऐतिहासिक चेतना-यात्रा (जो सांस्कृतिक विकास का मूल आधार है) आज आक्रान्त बाहय प्रभावों के अवरोध से ठहर गई है ।

पश्चिमी समाजों से विश्व-स्तर तक फैले विचारों, जीवन-शैलियों, बौद्धिक प्रवृत्तियों व सामाजिक- राजनीतिक अभियानों ने अपने प्रभुताशाली वर्चस्व (Pregemonic Control) से विश्व-प्रक्रियाओं (Global processes) को सर्वाधिक क्षति पहुंचाई है । इन सब से प्रकट एकजातीय-केन्द्रवाद (Ethno/Centrism) ने समस्त विश्व में न केवल विकास के एक समरेखीय मॉडेल की स्थापना की है बल्कि अपने अन्तर्निहित विभेदनों (Cleavages) से जीवन की अखण्ड-सत्ता को तोड़ डाला है । इसी प्रभाव के तहत अध्यात्म व दर्शन, विज्ञान व दर्शन, राजनीति व दर्शन तथा स्वयं व्यापक जीवन व उसके दर्शन में विभाजक स्वर प्रबल हो गए हैं । दर्शन संस्कृतियों के सार-निरूपण का फल होता है और दर्शन तथा संस्कृतियों की परस्पर निर्भरता से ही जीवन प्रक्रियाओं के नियामक-तत्त्व प्रकट होते हैं जो जीवन को स्थिरता व समग्रता प्रदान करते हैं । जीवन के विविध पक्षों से दर्शन व संस्कृति का यह तलाक हमारे आज के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है । इसने न केवल मानव-जीवन को खण्डित किया है और वैयक्तिक संस्कृति की स्वायत्तता को चोट पहुंचाई है । बल्कि स्वयं विश्व-प्रक्रिया की व्यवहार्यता पर भी आघात किया है । वास्तविक विश्व-प्रक्रिया हर पदसोपानिक स्तर पर अपनी समवर्ती संस्कृति से जुड़ी होती है । इस स्थिति में विश्व-प्रक्रियाओं को विविध संस्कृतियों से अलग देखना नितान्त अव्यावहारिक है ।[26]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीति की साध्यपरकता उसकी संस्कृति से पृथकता तथा शक्ति-राजनीति के रूप में उसकी विश्व-व्यापी प्रतिष्ठा ने उसे 'अच्छाई की राजनीति' (Goodness Polities)[27] से दूर कर दिया हे । ऐसी स्थिति में विश्व-स्तर पर जहां विकास की अवधारणा व प्रक्रिया विकृत हुई है वहीं विश्व-स्तर पर हिंसा, आर्थिक अभाव व यंत्रणाएं, असमानता तथा लोकतांत्रिक सहभागिता का नितान्त अभाव आदि अभिशाप खुल कर खेल रहे हैं ।[28] इनके रहते भविष्य सम्बन्धी कोई भी संकल्पना चरितार्थ नहीं हो सकती । इसका एकमात्र विकल्प यह है कि संस्कृति की श्रेणियों का उत्थान हो, राजनीति उनसे अंकुश पाए तथा वर्चस्व व प्रभुता के स्वर संस्कृति के आरोह से दबे।

विकास- प्रक्रिया में स्वामित्व (Mastership) की बजाए सहभागिता (Partnership) अभीष्ट है । यह सुसंस्कृत आचरण व संस्कृति की केन्द्रीयता द्वारा ही सम्भव है ।

भारत व विश्व संस्कृति दोनों के लिए यह अपरिहार्य है कि वे इन प्रसंगों तथा चुनौतियों के परे देखने और कुछ कर सकने की सामर्थ्य जुटाएं । यह सामर्थ्य संस्कृतियों के उस अन्तरावलम्बन से ही सम्भव है जिसकी हमने इस पाठ में सतत् चर्चा की है और जिसने आधुनिक काल के पूर्व अपनी अखण्ड दृष्टि से समस्त समाजों का विकसित व अन्तरावलम्बित किया है । यह भाव सिर्फ कर्म से ही नहीं आ सकता । कर्म के साथ बल्कि उससे पूर्व व परवर्ती मनन होना भी आवश्यक है । विश्व को भारत की यह एक अपूर्व देन रही है । जीवन की लड़ाई, उसका 'महाभारत' अर्जुन और उसके गाण्डीव-पराक्रम से अवश्य हो पर रथ का संचालन सारथी रूप में श्री कृष्ण ही करें, यह आज की फिर से एक बड़ी आवश्यकता प्रकट हो रही है ।

2.6 सारांश

अब तक की चर्चा का सार यह है कि मानव-चेतना सदैव अखण्डित होती है और इसलिए समग्र। संस्कृति 'समान प्रयत्नों की समान विरासत' के रूप में मानव-चेतना की इसी ठोस भाव-भूमि पर अवस्थित है । अखण्ड चेतना की अखण्ड अभिव्यक्ति में विश्व-संस्कृति आकार पाती है । इस विश्व-संस्कृति के सौजन्य से समग्र जीवन उपलब्ध होता है जो अपनी प्रकृति में सर्वव्यापी है । उसकी परिधि में जीवन के सभी भाव व्यापार, क्रियाएं व सम्बोधन आदि आते हैं जो व्यक्ति व समाज की दैहिक व आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । समाज, राज्य, धर्म, दर्शन, लोकाचार, साहित्य, कला आदि समस्त जीवन-पक्ष इसी समग्र जीवन का समर्पित हैं । उनके सहयोग से ही विश्व-चेतना व संस्कृति का प्रसार होता है । भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति का एक चेतनधर्मी अंग है । संस्कारों से परिशुद्ध होकर भारतीय संस्कृति जीवन में स्थाई व सनातन भाव ढूंढती आई है । उसकी इस आत्म-ज्ञानी खोज ने ही उसे विश्व-संस्कृति से सतत् जोड़े रखा है ।

संस्कृति समस्त का समस्त को योगदान है अतएव संस्कृति न केवल जातीय है और न ही राष्ट्रीय वह तो समग्र रूप से विश्व-व्यापी है । समस्त सांस्कृतिक अभियान विश्व-संस्कृति की सत्ता के आधीन चरितार्थ होते आए हैं । संस्कृतियों की इसी अन्तर्निर्भरता (अन्तरावलम्बन) ने मानव-जीवन को सदैव समृद्ध व सम्पन्न किया है । कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि सभी क्षेत्र विश्व-संस्कृति से ही आलोकित होकर अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक स्वायत्तता पाते आए हैं ।

भारत ने विश्व संस्कृति से अपनी इस आंगिक एकता को सहज स्वीकार किया है । भारत का ऐतिहासिक संदर्भ इस एकता व लेन-देन का स्पष्ट पक्षधर है ।

समसामयिक चुनौतियों व उनसे उत्पन्न खण्डित जीवन का सामना भी पूर्व-प्रकट व प्रतिष्ठित सांस्कृतिक चेतना से ही सम्भव है । संस्कृति ही मन व कर्म को परस्पर जोड़ सकती है ।

विश्व में सभी संस्कृतियां सदैव एक-दूसरे पर अवलम्बित व निर्भर रही हैं । विश्व-संस्कृति तथा उसकी वैशेषिक विश्व-चेतना इसी सांस्कृतिक भाव-भूमि पर टिकी रही है । एक दूसरे पर यह निर्भरता प्राय: इतनी स्वाभाविक रही है कि हमें उसके आने और हमारे जीवन में रस-बस जाने का आभास तक नहीं हो पाता । भारतीय संस्कृति भी इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है । वेशभूषा व खान-पान से लेकर साहित्य, कला, दर्शन क अत्यधिक सर्जनशील क्षेत्रों में बाह्य प्रभाव स्वत: स्पष्ट है । इस खण्ड में यह दर्शाया गया है कि भारतीय वेशभूषा वस्तुत: कितनी बाहरी तत्वों से प्रभावित है । (यह

शक, यवन कुषाण, मुस्लिम आदि योगदानों से विभूषित है) । 'रोटी', 'तवा' जैसे रोजमर्रा के साधन-उपकरण स्वयं मुस्लिम योगदान हैं । कला के क्षेत्र में गांधार कला व मौर्यकालीन स्तम्भ व स्तूप पर्याप्त विदेशी प्रभावों व उनके भारतीय सम्मिश्रण का परिचय देते हैं । इस्लाम व हिन्दू धर्मो ने भी एक-दूसरे से पर्याप्त रूप से सीखा, दर्शन में भारतीय व यूनानी साम्य व समानांतर भाव भी इसी अन्तर्निर्भरता का साक्ष्य पुष्ट करते हैं, साहित्य की कालातीत महत्ता भी विश्व-चेतना से मुखरित होती है । यह कहा जा सकता है कि शाश्वत अनुभूतियां व चेतना के ये 'अन्तर्राष्ट्रीय' स्वर अपने ऐतिहासिक क्रम में भारतीय संस्कृति व जीवन को सदैव समृद्ध करते रहे हैं ।

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये:-

(1) विश्व संस्कृति के नियामक तत्व पर एक लेख लिखिये ।

(2) 'संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन' से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिये ।

(3) संस्कृति की सर्वांगता क्या है? भारतीय संस्कृति इससे किस प्रकार प्रभावित हुई ।

(4) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सदैव संस्कृति का 'यथार्थपरक मर्म' रहे हैं । स्पष्ट कीजिये ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये:-

(1) भारतीय संस्कृति की मूल अवधारणाओं व प्रक्रिया की व्याख्या कीजिये ।

(2) विश्व के सम्मुख आज क्या समसामयिक चुनौतियाँ प्रकट हैं? उनसे कैसे बचा जा सकता है?

(3) भारतीय संस्कृति पर पड़े विदेशी प्रभावों को स्पष्ट कीजिये ।

2.8 संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. भगवतशरण उपाध्याय, **भारतीय संस्कृति के स्त्रोत** (नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1973), पृ. 1-2.
2. वही, पृ. 6.
3. जी.सी पाण्डे, **दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर** (आगरा, शिवलाल अग्रवाल, 1972), पृ.2
4. आई. फ्रोलोव (सं.), **डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी** (मॉस्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1984, द्वितीय एवं संशोधित संस्करण), पृ.सं. 94-95.
5. 'लेट हन्ड्रेड फ्लावर्स ब्लूम' माओं के नेतृत्व में प्रवर्तित साम्यवादी चीन का राष्ट्र-निर्माण विषयक एक दलीय अभियान था जो बहुलवातावादी सामाजिक यथार्थ को समर्पित था ।
6. विनायक कृष्ण गोकक, "टूवर्ड्स ए डेफिनिशन ऑफ कल्वर", **इंडिया एण्ड वर्ल्ड कल्चर,** अध्याय (दिल्ली, विकास पब्लिशिंग, 1972). पृ. 3.
7. **वही,** पृ. 5.
8. जीसी पाण्डे, पूर्वोक्त, पृ. 5.
9. आनन्द के. कुमार स्वामी**, हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिइज़्म** (न्यूयॉर्क, फिलॉसफ़ीकल लाइब्रेरी, 1943), पृ.4

10. श्री पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज, "संस्कृति विमर्श"**, कल्याण** ("हिन्दू संस्कृति अंक", वर्ष 24, संख्या 1) (गोरखपुर, गीता प्रेस, सं. २०५०, द्वितीय संस्करण), पृ.सं. 35-36.
11. **इन टु दी फ्यूचर** (नई दिल्ली, ओरिएन्ट लोंनगमेन, 1974).
12. भगवतशरण उपाध्याय की कृतियां अपने मौलिक वैचारिक योगदान व प्रकाण्ड तथ्यात्मकता के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं देखें **भारतीय संस्कृति के स्रोत,** 3. सं. 1 तथा **भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण** (नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1973).
13. उपाध्याय, **भारतीय समाज**......., पृ.सं. 34-35.
14. **वही.**
15. **वही.**
16. **वही.**
17. वहीं.
18. वहीं, पृ. सं. 37-38.
19. वहीं,
20. वही, पृ. 39.
21. विस्तृत चर्चा के लिए देखें अनाम जैतली, इंडियाज पोलिटिकल कल्चर, इन सर्च ऑफ ए फ्रेमवर्क (जयपुर, आलेख पब्लिशर्स, 1991), पृ.सं. 38-40.
22. एम.टी. अकबर, "इस्लामिक कल्चर", हरिदास भट्टाचार्य (सं.) दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया, खण्ड IV में संकलित लेख (कलकत्ता, आर.के.एम इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, 1958), पृ. 572.
23. विनायक कृष्ण गोकक, पूर्वोक्त, पृ. 113-114.
24. वही.
25. संस्कृति की स्वायत्तता से अभिप्राय है वह आत्म-एकताकारी भाव जो यह अनुभूति प्रस्तुत करता है कि दिखाई देना वाला 'अन्य' वस्तुतः 'अनन्य' है । संस्कृति के विविध पक्ष इसी अनन्य भाव से प्रेरित होकर विकास की थाह पाने का उपक्रम करते हैं । विस्तृत चर्चा के लिए देखें जी.सी पाण्डे, पूर्वोक्त, पृ. 15-16.

    सांस्कृतिक स्वायत्तता के विलोप का अर्थ है अनन्यता के इस मूल भाव से दूरी और विविध 'अन्य' शक्तियों का आच्छादन जो सांस्कृतिक-अभिज्ञान का संकट (Crisis of Cultural Identity) उत्पन्न करता है ।
26. विश्व-प्रक्रिया व संस्कृति के सम्बन्धों की व्याख्या के लिए देखें जोनाथन, फ्राईडमेन, कल्चरल आल्हेन्टिटी एण्ड ग्लोबल प्रोसेस (लंदन, सेज पब्लिकेशन्स, 1994), विशेषतः अध्याय 5,6 व 7.
27. आल्डस हक्सले, "गुडनेस पॉलिटिक्स", **कलेक्टेड एसेज** (लंदन, शैटो एण्ड विंडस, 1960), पृ. सं. 268-86.
28. रजनी कोठारी की फुटस्टेप्स इन टु दी फ्यूचर इन्हीं समस्याओं के निदान हेतु एक प्रासंगिक यूटोपिया बनाने का उपक्रम करती है । देखें कोठारी, फुटस्टेप्स.

इकाई 3 “युग युगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति - एक रेखाचित्र''

इकाई संरचना

3.00 प्रस्तावना

3.01 उद्देश्य

3.02 कृषि क्रान्तियाँ एवं समाज व संस्कृति

3.02.1 प्राचीन भारत में स्थिति

3.02.2 समाज का पुरोहित वर्ग

3.03 मध्यकाल में संस्कृति की रचना एवं विकास

3.03.1 मध्यकाल में संस्कृति की रचना एवं विकास

3.03.2 आम वर्गो का नैतिक संसार

3.03.3 हिन्दू धर्म तथा इस्लाम का सामाजिक एवं आध्यात्मिक संगम

3.03.4 भारतीय समाज में पूंजीवादी विकास की संभावनाएँ

3.04 औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज एवं संस्कृति

3.04.1 औपनिवेशिक शासन एवं उसके स्वार्थ

3.04.2 स्वाभाविक नेताओं की भूमिका

3.04.3 बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका

3.04.4 उपाश्रयी एवं आम वर्ग

3.04.5 विराट राष्ट्रवादी गठबन्धन

3.05 स्वतन्त्रता, समाज एवं संस्कृति

3.06 सारांश

3.07 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.08 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

3.00 प्रस्तावना

सभ्यता एक ऐसे बड़े मानव समूह से बनती है जिसके अपने कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं, जिन लक्षणों के कारण उस मानव समूह का अपना एक अलग सामाजिक स्वरूप बन जाता है । प्रथम सभ्यता का आधार आर्थिक उत्पादन की एक विशेष प्रणाली या कुछ विशिष्ट पद्धतियों पर होता है जिनके बल पर उसके सदस्यों का भरण-पोषण होता है । द्वितीय, उसे स्वरूप प्रदान करने के लिये भी एक खास किस्म की सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाएं कार्य करती हैं । उसमें समूह के सदस्यों की सृजनात्मक प्रतिभा का पूर्ण योगदान होता है । तृतीय और अन्तिम महत्वपूर्ण बात यह है कि सभ्यता की अपनी एक अलग नैतिक दृष्टि या 'अच्छे जीवन' के बारे में अपनी एक अच्छी प्रेरणा होती है जो उसके

आध्यात्मिक और भौतिक दोनों संसारों को अनुप्राणित करती है । इन तीनों कारणों के सामूहिक स्वरूप व उनकी क्रियाशैली ही सभ्यता को अपनी विशिष्ट पहचान प्रदान करती है ।

भारतीय समाज व संस्कृति के किसी भी विवेचना के लिये हमें अपनी इस अवधारणा पर काफी सीमा तक निर्भर करना होगा कि सभ्यताएं विश्व मानव-समुदायों के प्रमुख सामाजिक गठन है । वस्तुत प्राचीन (क्लासिकी) एवं मध्यकालीन भारतीय समाज की सबसे उपयुक्त पहचान विश्व की एक ऐसी महान सभ्यता के रूप में की जा सकती है जिसमें किसानों पर आधारित कृषि सम्पति के उत्पादन का वह प्रमुख साधन थी तथा जिसमें विभिन्न प्रकार की धार्मिक दृष्टियाँ सामाजिक व्यवस्था को नैतिक आचार प्रदान करती थी । इसमें सन्देह नहीं कि भारत में समय-समय पर हुई कृषि क्रान्तियोंने सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में सम्पूर्ण रंग रूप देने में किसानों के साथ-साथ कारीगरों, पुरोहितों, योद्धाओं एवं दस्तकारों की बौद्धिक दृष्टि तथा शारीरिक श्रम ने संयुक्त रूप से योगदान दिया और सामूहिक रूप से समाज व्यवस्था के लिये आधार तैयार किया।

3.01 उद्देश्य

भारतीय संस्कृति की इन सारभूत विशेषताओं के इस संक्षिप्त कथन को इस अध्याय के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया गया है । प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्य निम्न प्रकार से निहित हैं:-

(1) सभ्यताएँ एवं संस्कृति मानव समुदायों के प्रमुख सामाजिक गठन हैं ।

(2) भारत के कृषक समाज को औद्योगिक समाज में परवर्तित होने के लिये किन- किन काल-चक्रों से गुजरना पड़ा।

(3) कृषि क्रान्तियों एवं प्रौद्योगिकी ने समाज व संस्कृति को किस भाँति प्रभावित किया ।

(4) बाह्य तत्वों ने हमारी संस्कृति को किस प्रकार की रूप रेखा प्रदान की ।

(5) स्वतन्त्रता पूर्व हमारी किस प्रकार की सांस्कृतिक विरासत थी ।

(6) समाज के विशिष्ट वर्ग किस भाँति संगठनों को नियन्त्रित करते हैं ।

3.02 कृषि क्रान्तियाँ एवं समाज व संस्कृति

हमारे युग में भारत को एक कृषक समाज से औद्योगिक समाज में बदलने का जो प्रयत्न चल रहा है वह छानबीन का विषय सभी लोगों के लिये रूचि का है । अस्सी करोड़ से अधिक लोगों के राष्ट्र से संबंध रखने वाला यह महायज्ञ अपनी व्यापकता के कारण ही विश्व इतिहास का एक महत्वपूर्ण विषय बन जाता है । इसका जो अंतर्नाद महत्व है, वह तो है ही, इसके अलावा मानव जाति के लिए इसके कुछ संभावित फलितार्थ भी हैं । भारतीय अनुभव उन राष्ट्रों को जो अपने बीच आधुनिक औद्योगिक समुदायों की रचना करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टियां प्रदान कर सकता है । पहली, दूसरी या तीसरी किसी भी दुनिया के इस तरह के राष्ट्र, भारतीय अनुभव से लाभ उठा सकते हैं ।

यद्यपि भारत के मानव समुदाय विकास के लंबे दौर से गुजरे, जिसमें विकास के प्रागैतिहासिक तथा आद्य-ऐतिहासिक चरण भी शामिल थे, तथापि जिसे सही मायनों में भारतीय सभ्यता का इतिहास कहा जा सकता है, उसकी शुरुआत प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के आसपास हुई । यह वह समय था जब सिंधु और गंगा की घाटी में और साथ ही इस महाद्वीप के नदी- सिंचित प्रायद्वीपीय क्षेत्र में भी भौतिक संपत्ति के उत्पादन के मुख्य आधार के रूप में जाब्ते की खेतीबारी की जाने लगी । सुविदित है कि

परिपक्व कृषि का मार्ग लोहे की खोज तथा जंगलों को साफ करने और साथ ही जमीन गोड़ने के लिए लोहे के औजारों के विकास से प्रशस्त हुआ । दरअसल लोहे के औजार सुलभ होते ही ग्रामीण समुदाय गंगा और सिंधु के मैदानों की उपजाऊ कछारी मिट्टी का उपयोग काफी अच्छे और विस्तृत कृषि-कार्य के लिए करने लग गए ।

भारत में इस कृषि क्रांति की चर्चा करते हुए हमें दो बातों को ध्यान में रखने की जरूरत है । एक तो यह कि इस उपमहाद्वीप क विशिष्ट पर्यावरण ने, जिसमें नदियों के मैदानी प्रदेशों और पर्वतीय क्षेत्रों दोनों का समावेश है, इस क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । यह मानकर चलना भी उचित होगा कि जब भारत में कृषि ने काफी तरक्की कर ली तब सामान्यत: यह पूरा उपमहाद्वीप और खासतौर से गंगा का मैदान विश्व का एक सबसे अधिक घना आबाद क्षेत्र बन गया । एक विख्यात विद्वान ने बताया है कि पहली सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य के आसपास इस उपमहाद्वीप की आबादी 10 करोड़ थी । यदि हम इस चौंकाने वाले आकड़े में अतिरंजना और भूल की गुंजाइश रखें तो भी मानना पड़ेगा कि इस काल में यहां की आबादी का घनत्व काफी ज्यादा था । जनसंख्या की इस वृद्धि में शायद उस धार्मिक आचार का भी योगदान रहा होगा जो जीने के लिए मांसाहार के स्थान पर शाकाहार पर जोर देता था ।

3.02.1 प्राचीन भारत में स्थिति

प्रथम सहस्राब्दी ई. पू. के पूर्वार्द्ध के संबंध में जो पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध है, उनसे इस बात का समर्थन होता है कि गंगा-सिंधु के मैदान के पूरे प्रदेश में विकेन्द्रीकृत कृषक समुदायों के काफी सारे समूह बसे हुए थे । इस काल के इतिहासकारों ने मुख्यत धार्मिक कोटि के साहित्यिक स्त्रोतों के आधार पर बहुत ही श्रम्पूर्वक इस समाज की स्थानीय राज्य व्यवस्थाओं तथा क्षेत्रीय राज्यों के उद्भव की रूपरेखा तैयार की है । भूमि पर एक प्रभुत्वशाली योद्धा अभिजन समुदाय का अधिकार था और कृषि अधिशेष पर भी उसी का नियंत्रण था । यही समुदाय स्थानीय राजनैतिक व्यवस्था का आधार था । ऐसी स्थानीय राज्य व्यवस्था का प्रधान बहुधा एक सरदार या राजन्य होता था, जो उस योद्धा अभिजन समुदाय के किसी श्रेष्ठ वंश में उत्पन्न पुरुष होता था । अगले चरण में, प्रथम सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य तक सामाजिक संघर्ष तथा रक्तरंजित युद्धों के परिणामस्वरूप स्थानीय राज्य व्यवस्थाओं का समाहार क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं में हो गया । राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना के इन दोनों स्तरों पर राजनीतिक सत्ता का केंद्र या तो उपर्युक्त ढंग का कोई सरदार होता था या वंश-विशेष के सभी सदस्य । कुछ मामलों में ऐसा भी होता था कि सत्ता इन दोनों के बीच हिचकोले खाती रहती थी । इस प्रकार इस काल की स्थानीय या क्षेत्रीय राजनीति में राजतांत्रिक तथा गणतांत्रिक दोनों प्रणालियां शासन की वैकल्पिक पद्धतियों के रूप में मौजूद थी । लेकिन कालांतर में राजतंत्र का सिद्धांत राजनीतिक संगठन का प्रमुख रूप बन गया और तीसरी सदी ई.पू. आते-आते, हम भारतीय सभ्यता में एक उपमहाद्वीपीय स्तर की राज्य व्यवस्था को पहले-पहल उभरते देखते हैं । कहने की जरूरत नहीं कि मौर्य राज्य व्यवस्था का उदय क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं के बीच रक्तरंजित और घोर संघर्ष का परिणाम था ।

ऊपर हमने जिन स्थानीय, क्षेत्रीय और अखिल भारतीय राज्य व्यवस्थाओं के विकास के इतिहास की रूप रेखा प्रस्तुत की है उनके बारे में यहा कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है । जैसा कि

हम देख चुके हैं, भूमि पर योद्धा अभिजन समुदाय का स्वामित्व और उस भूमि की उपज पर उसका अधिकार स्थानीय राज्य व्यवस्था पर उसकी सत्ता का आधार होता था । योद्धा अभिजन समुदाय का कृषकों और कारीगरों के समुदायों पर वर्चस्व होता था और उसकी सत्ता तथा विशेषाधिकारों को वैधता प्रदान करने का काम उस पर निर्भर एक पुरोहित वर्ग करता था । इस संदर्भ में जो बात खास ध्यान देने लायक है, वह है इन राजनीतिक संस्थाओं की कमजोरी- विशेषकर क्षेत्रीय तथा उपमहाद्वीपीय स्तर की संस्थाओं की कमजोरी-जिसका कारण यह था कि यहां उस तरह के प्रशासनिक ढांचे थे ही नहीं, जैसे कि चीनी सभ्यता या इसी तरह की अन्य सभ्यताओं में देखने को मिलते हैं । सच तो यह है कि भारतीय समाज सदियों के इस तमाम दौर में इस दुर्बलता से ग्रस्त रहा ।

3.02.2 समाज का पुरोहित वर्ग

गंगा और सिंधु के मैदानों में बिखरे समुदायों की सामाजिक संरचना का वर्णन करते हुए हमने कहा है कि उसका जो रूप बना वह मुख्यत: एक विकेन्द्रीकृत कृषि-अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं का परिणाम था । लेकिन साथ ही, इस समाज की संरचना में एक और शक्ति की ओर ध्यान देना भी जरूरी है । उस शक्ति का स्त्रोत प्राचीन भारतीय समाज के वे अज्ञात विधायक थे जिनका जिक्र हमने ऊपर किया है । उन्होंने सामाजिक संगठन के जो सिद्धांत प्रस्तुत किए, वे समाज की नैतिक तथा धार्मिक व्यवस्था के सिद्धांत बन गए । राजनीतिक सत्ता तथा भूसंपत्ति पर नियंत्रण रखने वाले योद्धा अभिजन समूह को जो प्रभुत्व प्राप्त था वह क्षत्रियों के रूप में प्राप्त था । उस समाज का पुरोहित वर्ग नैतिक तथा कर्मकांडी तौर पर उक्त अभिजन समूह की इस विशेष स्थिति को समर्थन प्रदान करता था । इसलिए स्वभावतः: समाज में उसे ज्यादा नहीं तो कम से कम उतना सम्मान तो प्राप्त था ही जितना योद्धा अभिजन वर्ग को था । ये पुरोहित उस समाज व्यवस्था के पार्थिव उपकरण माने जाते थे जिसे उन्होंने एक दैवी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया । दरअसल समाज के सोपानों का कायम रखने वाले आधार का काम पुरोहितों और योद्धाओं के ये दो उच्चतर वर्ग ही करते थे । इनकी समतुल्य और परस्पर अनुपूरक भूमिकाएं और सत्ता एक सजीव और संपूर्ण वस्तु के रूप में सामाजिक व्यवस्था की प्राणवायु का काम करती थीं । इन दो ऊपरी वर्गो के नीचे व्यापारियों, कारीगरों और किसानों के समुदाय आते थे, जिनका आध्यात्मिक तथा लौकिक दर्जा दोनों ऊपरी वर्गों से नीचे था । एक अन्य वर्ग इनसे भी नीचे था । यह उन लोगों का वर्ग था जो समाज के लिए अधम और अस्वच्छ माने जाने वाले कार्य करते थे और जिन्हें समाज की सोपान-व्यवस्था में कोई स्थान ही नहीं दिया गया था । इस प्रकार समाज की नैतिक और आर्थिक दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का परिणाम एक ही था ।

जब कृषि के विकास के फलस्वरूप समाज के उत्पादक आधार का विस्तार हुआ तो उसी के साथ लोक-कर्मकांडों के पुरोधाओं का प्रस्फुटन चिंतनशील बौद्धिक जनों और विशेषज्ञता प्राप्त पुरोहितों के रूप में हुआ, जिनकी विश्व दृष्टि की अभिव्यक्ति हिंदू समाज के मुख्य धर्मग्रंथों में हुई । वैदिक संहिताएं, रामायण तथा महाभारत नामक महाकाव्य, विविध उपनिषदें, भगवद्गीता तथा वेदांत सूत्र ऐसे ग्रंथों के प्रमुख उदाहरण हैं । इन ग्रंथों और इनसे प्रेरित होकर लिखे गए भाष्यों में पुरोहित अभिजन वर्ग क दर्शन की अभिव्यक्ति हुई । इस दर्शन में समाज की वर्ग व्यवस्था तथा नैतिक व्यवस्था के औचित्य का प्रतिपादन करने के साथ ही सृष्टि के रहस्यों का भी अवगाहन करने की कोशिश की गई। पुरोहित बुद्धिजीवियों के चिंतन के अधिकांश में यथार्थ की आदर्शगत स्थिति प्रस्तुत की गई, लेकिन

साथ ही इन आदर्शवादी अवधारणाओं को उन भोतिकवादी दृष्टिकोणों के आमने-सामने रख दिया गया जिनमें उस जनविश्वास की अभिव्यक्ति हुई थी, जो शायद आर्थिक प्रवृत्ति के आधार के रूप में कृषि के उदय से पहले ही कायम था ।

3.03 मध्यकाल में संस्कृति की रचना एवं विकास

भारतीय सभ्यता के सामाजिक तथा वैचारिक स्वरूप में मध्यकालीन सदियों के दौरान आए बदलावों पर विचार करने से पूर्व इस सभ्यता की रचना और विकास में निहित एक बुनियादी सिद्धांत की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक है । भारत के इतिहास पर सरसरी दृष्टि डालने से भी देखा जा सकता है कि अफगानिस्तान या मध्य एशिया से उत्तर भारत की नदियों के उपजाऊ मैदानी प्रदेशों की ओर समय- समय पर कबायिली समुदायों का जो देशांतरण होता रहा, उसने भारतीय समाज की संरचना के लिए खमीर का काम किया । इन प्रवेशों का सिलसिला दूसरी सहस्राब्दी ई. पू. में आरंभ हुआ और अभी तीन-चार सदी पहले तक चलता रहा और इसके फलस्वरूप भारतीय समाज को एक विलक्षण रूप प्राप्त हुआ । समय- समय पर होते रहने वाले इन देशांतरणों के कुछ परिणामों पर हम इस आलेख में आगे विचार करेंगे । अभी इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इन देशांतरणों के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता में नए बौद्धिक मूल्यों तथा भौतिक प्रौद्योगिकियों का समावेश हुआ । दरअसल नए "ईश्वरों", अच्छे जीवन की नई कल्पनाओं और सामाजिक संगठन तथा आर्थिक उत्पादन की नई व्यवस्थाओं को अपने अंदर खपाने के लिए इस सभ्यता के सामाजिक मानदंडों का सतत् विस्तार होता रहा । यहां इस बात को भी रेखांकित करना जरूरी है कि नए-नए लोगों, नई-नई प्रौद्योगिकियों तथा नवीन मूल्यों के सतत् प्रवाह के कारण इस उपमहाद्वीप के लोगों में एक प्रबल सामाजिक लोच और नए प्रभावों के प्रति विशिष्ट प्रकार की संवेदनशीलता आई । इसके साथ ही उनमें नए आचार-विचार का स्वीकार करने और अपनी मौजूदा विश्व दृष्टि में उनका समाहार करने की भी अद्भुत क्षमता उत्पन्न हुई ।

ईस्वी सन् की दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ से अफगानिस्तान या मध्य एशिया से इस्लाम धर्म को मानने वाले कबायिली समुदायों का भारत आगमन एक प्रकार से उस क्षेत्र के लोगों के गंगा-सिंधु के मैदानों की ओर देशांतरण की पुरानी ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही अंग था । इस बात की बहुत अधिक संभावना दिखाई देती है कि मध्य एशिया या अफगानिस्तान की कबायिली राज्य व्यवस्थाओं. के इस्लाम के नैतिक पाश में बंध जाने के बाद उनमें राज्य तथा राज्य से संबंधित संस्थाओं की ऐसी अवधारणाओं का समावेश हुआ जो तद्विषयक भारतीय अवधारणा से अधिक संश्लिष्ट थीं । इसके साथ ही इस्लामी समुदायों के पास युद्ध- कौशल की बेहतर प्रौद्योगिकियां थीं और उनकी सेनाएं सुबद्ध कबायिली प्रणालियों पर आधारित थी । इसके विपरीत, गंगा-सिंधु के मैदानों की जिन स्थानीय और क्षेत्रीय व्यवस्थाओं ने कबायिली अतिक्रमणों को रोकने का प्रयत्न किया, वे एक बहुत ही शिथिल प्रणाली के घटक थीं, जिसके संगठन की रूपरेखा हमने ऊपर प्रस्तुत की है ।

3.03.1 राज्य का गठन एवं समाज

मध्यकाल के दौरान भारत में राज्य के गठन के बारे में जो परिवर्तन आये उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है । इस्लाम के योद्धा समुदायों के प्रधान-पदों पर आसीन कबायिली नेताओं ने भारत में ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करने की कोशिश की जो उन राज्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा बहुत अधिक

शक्तिशाली थी जिनके स्थान पर वह प्रतिष्ठित की गई थी । उपलब्ध साक्ष्यों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि अधिक संश्लिष्ट राज्य की स्थापना का काम दो चरणों में किया गया । प्रथमत: तो अफगानिस्तान या मध्य एशिया के कबायिली योद्धा-दलों ने गंगा और सिंध के मैदानों के क्षेत्रीय शासकों के कमजोर गठबंधनों के बल पर खड़ी की गई विशाल किंतु असंगठित सेनाओं को शिकस्त दी । उसके बाद इन विजयी योद्धा-दलों ने लगातार लड़ाई जारी रख कर स्थानीय शासकों की सैनिक शक्ति तथा राजनीतिक सत्ता को प्रभावहीन बना दिया । इस सबके उपरांत नए शासक ऐसे राज्य स्थापित करने में कामयाब हो गए जिनका, पराभूत और सत्ताच्युत राज्य व्यवस्थाओं की तुलना में, कृषि अधिशेष पर अधिक प्रभावकारी नियंत्रण था और जिनकी सैनिक शक्ति ज्यादा दुर्धर्ष थी, हालांकि इन राज्यों में भी सुगठित नौकरशाही व्यवस्था का अभाव था ।

3.03.2 आम वर्गो का नैतिक संसार

इस समय भारत में शायद जो सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन संपन्न हुआ, उसका सरोकार आम वर्गो की सामाजिक तथा नैतिक दुनिया से था । इस्लाम का आधार एक इलहामी धर्मग्रंथ में प्रस्तुत सुपरिभाषित विश्व दृष्टि थी और उसके अनुयायियों के लौकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवन इस विश्व दृष्टि से निर्धारित होते थे । इसलिए हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच का टकराव धार्मिक अभिजनों के लिए और उसी तरह भारतीय सभ्यता के आम वर्गो के लिए भी एक नया आध्यात्मिक टकराव था । यहां की सभ्यता के अंदर वैचारिक दृष्टिकोणों की प्रचुर विविधता थी, और सच पूछिए तो उसकी संरचना को रूप देने वाली जाति और वर्ण नामक संस्थाओं का आधार एक ऐसी सोपानबद्ध तथा भेदभावपूर्ण व्यवस्था थी जिसमें आध्यात्मिक अनुभूति का मार्ग सबके लिए नहीं, बल्कि कुछ वर्गो के लिए ही खुला हुआ था । यदि हम इस बात को महत्व न भी दे कि शासक वर्ग के धार्मिक विश्वासों का समाज के अन्य वर्गो पर बहुत ज्यादा असर पड़ता है, तब भी हिंदू धर्म पर इस्लाम जैसी सामी धर्म व्यवस्था के प्रबल प्रभाव की कल्पना सहज ही की जा सकती है । इस प्रभाव के सबसे समर्थ स्त्रोत सूफी संत साबित हुए, जिन्होंने विशुद्ध इस्लाम में प्रतिपादित ईश्वर के इंद्रियातीत रूप को अस्वीकार कर दिया । इसके बजाय सूफियों ने ऊंच-नीच सबके सामने ईश्वर का घट-घट व्यापी रूप प्रस्तुत किया, और उन्होंने एक अति नीरस धार्मिक दृष्टि को जो करुणामय रूप दिया, उसमें समाज के सुविधाहीन वर्गो के लिए प्रबल आकर्षण था । शीघ्र ही भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वत्र सूफी संतों के अखाड़े स्थापित हो गए और खासतौर से कुछ इलाकों में कृषक तथा दस्तकार वर्गो के लोग काफी बड़ी संख्या में इस्लाम के अनुयायी बन गए ।“

चूंकि सूफियों का सबसे अधिक प्रभाव हिंदू समाज के निम्न वर्गो पर पड़ा, इसलिए उससे हिंदू धर्म में एक अत्यंत गंभीर महत्व का वैचारिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ । इस्लाम के एक विशिष्ट धर्म के रूप में उदित होने या उसके अनुयायियों के भारत में आने के बहुत पहले ही हिंदू धर्म के चिंतकों के मानस में ईश्वर को एक सर्वव्यापी तत्व के रूप में पहचानने की समस्या को लेकर ऊहापोह चलने लगा था । जब ऐसे लोगों का ध्यान मोक्ष और भगवत्कृपा के प्रश्न की ओर गया तो यह समस्या और भी तीव्र हो उठी, क्योंकि इस प्रश्न का संबन्ध निम्न वर्गो से, किसानों और कारीगरों से तथा अधम माने जाने वाले अन्य पेशों में लगे लोगों से था, जिन्हें जाति व्यवस्था पर आधारित वर्ग विन्यास में तनिक भी सम्मान की स्थिति प्राप्त नहीं थी । कुछ कारणों से, जिन्हें समझ पाना कठिन है, ईश्वर

की सर्वव्यापकता के प्रश्न को लेकर तमिल संतों का मानस इस उपमहाद्वीप के किसी भी अन्य क्षेत्र के संतों की अपेक्षा अधिक उद्वेलित हुआ । प्रथम सहस्त्राब्दी ई. से तमिल समाज में आलवार संतों के रूप में ऐसे धर्मप्राण लोगों की एक परंपरा आरंभ हो गई जिन्होंने अत्यंत गीतात्मक तथा आध्यात्मिक अनुभूति से युक्त श्रेष्ठ कविताओं की रचना की । इन कविताओं के मध्यम से संतों ने ऊंच-नीच सबके लिए मोक्ष के सर्वाधिक वांछनीय मार्ग के रूप में भक्ति का प्रचार करने में सफलता प्राप्त की।

आम वर्गों के लोगों को भक्ति में मोक्ष का मार्ग दिखाने के महान कार्य को पूरा करने का बीड़ा धार्मिक आंदोलनकारियों के एक विशिष्ट समूह ने उठाया । इस समूह का केंद्र गंगा की घाटी के हृदय-देश में स्थिति वाराणसी नामक नगर था। इस आन्दोलन के नेता थे रामानंद । उनके प्रभाव से एक के बाद एक अनेक लोकप्रिय संत इस धारा में शामिल होते गए । इनमें से कबीर और तुलसीदास दो सर्वप्रमुख नाम हैं । उन्होंने आम लोगों के मानस में आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों संसारों के संबंध में एक नई जागरूकता पैदा की । भक्ति आंदोलन से जुड़े संतों के विचारों और सामाजिक दृष्टिकोणों में परस्पर जो विभेद थे, इस छोटे से अध्याय में उनकी चर्चा कर सकना संभव नहीं है । इतना कह देना पर्याप्त होना चाहिए कि उनके नैतिक दृष्टिकोण का आधार विश्व के प्रति अद्वैत के विपरीत उनकी द्वैत दृष्टि थी । उनमें से कुछ ने, जैसे कि कबीर ने, ईश्वर की कल्पना निराकार ओर निर्गुण ब्रह्म के रूप में की, जबकि तुलसी जैसे संतों ने उसकी कल्पना सगुण ब्रह्म के रूप में की। इसके अतिरिक्त, कुछ भक्त संतों की वाणी में सामाजिक नहीं, तो कम से कम आध्यात्मिक बदलाव का स्वर प्रखर था, जबकि कुछ संत आध्यात्मिक यथास्थिति तथा वर्णविभाजित समाज और 'सामंती' व्यवस्था के समर्थक थे । इन मत-मतांतरों के बावजूद भक्ति आंदोलन के जनप्रिय कवियों को एक ही आंदोलन के दायरे में रखा जा सकता है । वे हिंदू समाज के सोपानबद्ध वर्गों को अधिक संश्लिष्टता प्रदान करने में सहायक हुए ।

3.03.3 हिन्दू धर्म तथा इस्लाम का सामाजिक एवं आध्यात्मिक संगम

किंतु हिंदू धर्म तथा इस्लाम के अलग-अलग संसारों के सामाजिक तथा आध्यात्मिक संगम की संभावना पर विचार किए बिना मध्यकालीन सदियों के दौरान भारतीय सभ्यता के अंतर्गत सक्रिय नैतिक मूल्यों के किसी भी विवेचन को संतोषजनक नहीं माना जा सकता । इन दोनों धर्मों के आम लोगों पर एक ओर सूफी आंदोलन और दूसरी ओर भक्ति आंदोलन के प्रभाव पर हम विचार कर चुके हैं । इसके फलस्वरूप लोगों के लिए अपने-अपने धर्मों की सीमाओं में रहते हुए भी आध्यात्मिक साझेदारी की काफी गुंजाइश निकल आई । इसके अतिरिक्त, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सहअस्तित्व का यह महान प्रयोग केवल जनप्रिय संतों तथा उनके अनुयायियों तक ही सीमित नहीं था । समाज के शीर्ष पर आसीन शासक वर्गों के उदारचेता तथा प्रबुद्ध लोगों ने भी-चाहे वे शाही दरबार में रहे हों या इस उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में छोटे दरबारों में रहे हों - भारत में एक सामाजिक आध्यात्मिक संस्कृति की रचना करने के उद्देश्य से अपने-अपने धर्म की सीमाओं से आगे तक जाने का प्रयत्न किया । महान सम्राट अकबर और अभागा दारा शिकोह उदार भावनाओं से प्रेरित शासक वर्गों के लोगों के ज्वलंत उदाहरण हैं । तत्वचिंतन संबंधी ग्रंथों तथा धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त, दरबारी संस्कृति का भी अपना एक सामाजिक रूप बन आया था, जिसकी अभिव्यक्ति त्यौहारों के अवसर पर आयोजित समारोहों में होती थी । इसके अलावा कला, स्थापत्य तथा जीवन- शैलियों में भी इसकी झलक देखने को मिलती

थी । इस प्रकार मध्यकालीन सदियों के दौर में राजनीति तथा धर्म के क्षेत्र के सृजनशील और विचारवान लोगों ने विभिन्न आध्यात्मिक व्यवस्थाओं तथा सांस्कृतिक शैलियों का ऐसी सामासिक विश्व दृष्टि में समाहार करने का प्रयत्न किया जो आद्यत उदात्त और अतिविशिष्ट थी । हां, उस काल की आर्थिक व्यवस्था के बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता ।

3.03.4 भारतीय समाज में पूंजीवादी विकास की संभावनाएँ

यह याद रखना जरूरी है कि इस्लाम के अनुयायी भारत में एक नई विश्व दृष्टि के अतिरिक्त आर्थिक उत्पादन की नई प्रौद्योगिकियां लेकर भी आए थे । मध्यकाल पर लिखने वाले इतिहासकारों ने इस युग में कृषि के विस्तार, व्यापार की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि तथा जनसंख्या की बढ़ोतरी को परिमाणात्मक स्तर पर न सही लेकिन गुणात्मक स्तर पर स्वीकार किया है । शायद राजनीतिक व्यवस्था के विषय में चलने वाली सबसे अर्थपूर्ण बहस का उतना अधिक संबंध उसके 'सामंती' या 'गैर-सामंती' रूप से नहीं है जितना कि इस युग के अंत में इस उपमहाद्वीप में उस व्यवस्था में निहित पूंजीवादी विकास की संभावनाओं से है ।

इस स्थल पर समाजों के पूंजीवादी रूपांतरण के संबंध में दो-चार बातें कह देना प्रासंगिक होगा। औद्योगिक क्रांति के अनुभव के दौर से गुजरने वाला पहला राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन था । इस क्रांति को संभव बनाने वाली तीन शक्तियों को महत्वपूर्ण माना गया । इनमें से पहली थी भूस्वामी सामंतों का उदय तथा कृषि-उत्पादन का वाणिज्यीकरण । दूसरी थी व्यापारिक गतिविधियों में वृद्धि तथा व्यापारिक पूंजी का संग्रह । तीसरी शक्ति का संबंध कारीगरों का उत्पादन के क्षेत्र में मौलिक उद्भावनाएं करने वाले ऐसे अभियंताओं में बदल जाना जिनके पास अच्छे खासे परिणाम में पूंजीगत संसाधन भी थे । इन तमाम प्रवृत्तियों के संयोग ने ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया । इसलिए स्वभावतः: अठारहवीं सदी में जब उपनिवेशवाद ने भारत की सामाजिक बुनावट को छिन्न-भिन्न कर दिया उसके पूर्व इस देश में पूंजीवादी विकास की संभावना की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के विषय में विद्वज्जनों के बीच चलने वाली बहस का केंद्र बिन्दु समाज व्यवस्था में ऐसी प्रवृत्तियों की मौजूदगी या गैर-मौजूदगी ही है ।

उत्तर मध्यकालीन भारत में पूंजीवाद के विकास की संभावनाओं पर विचार करते हुए हमारे सामने इसके पक्ष में बहुत जबरदस्त साक्ष्य उभरते हैं । समाज में तनाव तो काफी थे और उन्हीं तनावों के कारण अंत में मुगल साम्राज्य बिखर भी गया । लेकिन इसके बावजूद ग्रामीण समाज से संबंधित अध्ययनों से भूस्वामी श्रीमंतों के उदय का संकेत भले ही नहीं मिलता हो, परंतु वाणिज्य-अभिमुख कृषि का साफ पता चलता है । अठारहवीं सदी में शायद भूस्वामी श्रीमंतों की अपेक्षा धनी किसानों का विकास अधिक हुआ । इसके अलावा, ऐसे साक्ष्यों का भी अभाव नहीं है जिनसे मालूम होता है कि इस दौर में सौदागरी अर्थव्यवस्था खूब फूल-फल रही थी, जिसका आधार दस्तकारी उद्योग और स्थानीय, क्षेत्रीय तथा उपमहाद्वीपीय स्तर के बाजार थे । लेन-देन की उपयुक्त व्यवस्था तथा मुद्रा के सतत् प्रवाह के आधार पर खरीद-बिक्री के केंद्रों का एक विस्तृत जाल बिछ गया था । लेकिन ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति को सहारा देने वाली जिन तीन शक्तियों का निर्देश किया गया है उनमें से तीसरी शक्ति को ध्यान में रखकर विचार करने पर हम पाते हैं कि, स्थिति खास अच्छी नहीं थी । जहां तक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मौलिक उद्भावना और मानवशक्ति के स्थान पर अन्य प्रकार की शक्तियों के प्रयोग का प्रश्न

है, भारत के इतिहास का परिप्रेक्ष्य अठारहवीं सदी के ग्रेट ब्रिटेन के परिप्रेक्ष्य से सर्वथा भिन्न है । शायद भारत की विशाल आबादी और उसकी सामाजिक संरचना आर्थिक उत्पादन की प्रौद्योगिकियों के क्षेत्र में मौलिक उद्भावना के मार्ग में बाधक थी । इसके अतिरिक्त, ग्रामीण पूंजी के संग्रह के तो साक्ष्य मिलते हैं किंतु इस पूंजी के प्रौद्योगिकीय क्षेत्र में मौलिक उद्भावनाओं के काम आने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

प्रासंगिक साहित्य के हमारे सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उत्तर मध्यकालीन भारत में औद्योगिक रूपांतरण की संभावना से संबंधित बहस एक अनिर्णित बहस है । हमने उपर उस काल की राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान सकारात्मक और साथ ही नकारात्मक प्रवृत्तियों का भी निर्देश किया है । अब इस स्थल पर 'आद्य औद्योगीकरण' की अवधारणा की बात करना समीचीन होगा । इस शब्द से औद्योगीकरण के पूर्व की उस स्थिति का बोध होता है जो कि समाज को वास्तव में औद्योगीकरण के मार्ग पर ले भी जा सकती है और नहीं भी ले जा सकती है । उतना ही समीचीन यह भी होगा कि हम भारत की सभ्यता को एक ऐसा सामाजिक संघठन मानकर चलें जो कई क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं से बना हुआ था। इन दोनों अवधारणाओं को ध्यान में रखते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि भारत की कुछ क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाएं-उदाहरण के लिए, गुजरात तथा बंगाल की अर्थव्यवस्थाएं-अठारहवीं सदी में 'आद्य-औद्योगीकरण' की अवस्था तक पहुंच गई थीं । इन अर्थव्यवस्थाओं में पूर्ण पूंजीवादी रूपांतरण की क्षमता थी या नहीं, इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना कठिन है ।

3.04 औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज एवं संस्कृति

उपर कहा गया है कि अठारहवीं सदी में भारतीय समाज के पूंजीवादी विकास की संभावना से संबंधित बहस अनिर्णित है । इसके अनिर्णित रहने का सबसे बड़ा कारण यह है कि ठीक उसी समय भारत के भवितव्य में यूरोप ने हस्तक्षेप किया। उस हस्तक्षेप के फलस्वरूप यह पूरा प्रश्न इतिहास के सहज प्रवाह के मार्ग को रोक लेने वाली एक घटना के जाल मे फंस गया । कारण, औपनिवेशिक 'काल के संबंध में लिखने वाली भारतीय इतिहासकारों में इस बात पर आम सहमति है कि इस उपमहाद्वीप पर ब्रिटिश प्रभुत्व ने भारतीय समाज की आर्थिक उत्पादकता तथा सांस्कृतिक सृजनशीलता को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

भारत के औपनिवेशिक काल की कुछ विशेषताओं को आरंभ में ही खासतौर से स्पष्ट कर देना जरूरी है, क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके दक्षिण एशियाई उपनिवेश पर उनका निर्णायक प्रभाव पड़ा । यह पहला अवसर था जब किसी विजेता ने इस उपमहाद्वीप में उसके समुद्र-मार्ग से कदम रखा । इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासक वर्ग ने अपने मूल देश से, अपनी समुद्री शक्ति के ही जोर पर, सक्रिय संबंध कायम रखा, बल्कि सच तो यह है कि उसकी शक्ति का स्त्रोत ही स्वदेश से उसका यह संबंध था । और आखिरी बात यह कि अंग्रेजों ने भारत को ऐसे समय में जीता जब ग्रेट ब्रिटेन औद्योगिक क्रांति के दौर से गुजर रहा था और इस क्रांति के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिणामों ने भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटेन के औपनिवेशिक प्रदेशों पर, अच्छा- बुरा (ज्यादातर तो बुरा ही), गहरा प्रभाव डाला ।

3.04.1 औपनिवेशिक शासन व उसके स्वार्थ

भारत के औपनिवेशिक समाज में आए परिवर्तनों को समझने के लिए औपनिवेशिक शासन के विभिन्न चरणों में उसके सर्वग्राही स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है । पहले चरण में, जब औद्योगिक क्रांति पूर्ण रूप से संपन्न नहीं हुई थी, अंग्रेजों ने पश्चिम के बाजारों के लिए भारत की कृषि के व्यापार योग्य उत्पादों तथा दस्तकारी और कारीगरी की वस्तुओं को कम से कम लागत पर प्राप्त करने की कोशिश की । ऐसी वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित होकर उन्होनें इस उपमहाद्वीप के पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वोत्तर प्रदेशों पर 'अपना नियंत्रण स्थापित किया । प्रादेशिक नियंत्रण स्थापित हो जाने पर अपने भारतीय व्यापार की धन की आवश्यकता की पूर्ति इन नवविजित प्रदेशों के कृषि उत्पादों पर लगाए गए कर से करने लगे । इसी कारण से अठारहवीं सदी के अंत में उन्होंने ऐसा प्रशासन कायम किया जो अपने शीर्ष पर तो किसी आधुनिक नौकरशाही के ही समान था, लेकिन मध्यवर्ती तथा निचले स्तरों पर उसका आधार, वे सरकारी अमले थे जो इसी देश की संतान थे और पारंपरिक प्रशासनिक संस्कृति से पके हुए थे । जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, शासन प्रणाली का मुख्य प्रयोजन उन करों की व्यवस्थित वसूली थी जो औपनिवेशिक राज्य की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे ।

जब ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिकी क्रांति अपने ओज पर पहुंच गई तब भारत के औपनिवेशिक समाज के साथ उसके संबंधों में नाटकीय परिवर्तन आया । कृषि तथा कारीगरी के व्यापारिक उत्पादों को कमं से कम कीमत या लागत पर हासिल करने की आरंभिक व्यापारिक नीति का स्थान एक सर्वथा भिन्न रणनीति ने ले लिया । ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक अर्थव्यवस्था को दो बातों कीं आकुल आवश्यकता की पूर्ति के लिए खनिज पदार्थ तथा कृषि उत्पाद चाहिए था। दूसरे, उसे विस्तृत बाजार की जरूरत थी, जिसमें वह अपनी उपभोक्ता वस्तुओं को अच्छी कीमतों पर बेच सके ।

इसलिए उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण से भारत में ग्रेट ब्रिटेन की नीति मुख्यत: उसकी उदीयमान औद्योगिक व्यवस्था की आवश्यकताओं से निर्धारित हुई । दरअसल भारत पर शासन करने के लिए खड़ी की गई पुनर्गठित नौकरशाही का रूप भी इन्हीं जरूरतों से तय हुआ । देशभर में फैला नौकरशाही का यह विस्तृत जाल वाइसराय से शुरू होकर प्रांतीय गवर्नरों से होता हुआ क्षेत्रीय कमिश्नरों और जिला तथा उप-जिला अधिकारियों तक पहुंचता था । यदि चीनी सिविल सेवा को छोड़ दिया जाए तो अंग्रेजों ने भारत में जो प्रशासनतंत्र स्थापित किया, वह अब तक के इतिहास का शायद सबसे विस्तृत प्रशासन तंत्र था । अंग्रेज सिविल अधिकारी के अधीन उप-जिले से नीचे स्वदेशी प्रशासकों का एक सोपान बनाया गया, जिसके सदस्य बहुधा संबंधित क्षेत्र के प्रभावशाली भूस्वामी परिवार से भर्ती किए जाते थे । ग्रामीण स्तर पर इस प्रशासनतंत्र के आधार गांव का मुखिया और पटवारी थे, जो अनादिकाल से ग्रामीण समाज का अभिन्न अंग बने हुए थे । औपनिवेशिक राज्य के आधारस्तंभ का काम करने वाली प्रशासन व्यवस्था की शक्ति के दो स्त्रोत थे । एक तो थी साम्राज्य की सेना, जो पूरे उपमहाद्वीप के प्रमुख नगरों और शहरों में स्थापित छावनियों में फैली हुई थी । दूसरे, अंग्रेजों ने कुछ विशेष युक्तियों से, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे, क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तरों पर भूस्वामी परिवारों के साथ गठबंधन कायम किया । स्पष्ट देखा जा सकता था कि भूस्वामी परिवारों और औपनिवेशिक राज्य के बीच के हितों तथा भावनाओं का यह गठबंधन इस काल में किस प्रकार साम्राज्य की शक्ति का एक आधार

बन गया था । कुछ ब्रिटिश सिविल अधिकारियों ने भारत पर अंग्रेजी शासन का औचित्य साबित करने के लिए एक विस्तृत सिद्धांत की रचना की और इस सिद्धांत के अंतर्गत "जनता के स्वाभाविक नेताओं" के रूप में भूस्वामी परिवारों के मुखियों को प्रमुख स्थान दिया गया था ।

3.04.2 स्वाभाविक नेताओं की भूमिका

जनता के इन तथाकथित स्वाभाविक नेताओं पर तनिक विस्तार से विचार करने की जरूरत है । उन्होंने औपनिवेशिक राज्य को अमूल्य समर्थन प्रदान किया । बंगाल और अवध सूबों में अंग्रेजों ने आरंभ में जो प्रदेश हासिल किए, उनमें भूमि के सांयत्रिक अधिकारों का बंदोबस्त ऐसे लोगों के एक वर्ग के नाम कर दिया जिन्हें जमींदार या तालुकदार कहा जाता था । इन क्षेत्रीय श्रीमंतों से औपनिवेशिक राज्य के लिए राजनीतिक समर्थन जुटाने के साथ-साथ यह आशा भी की जाती थी कि वे ग्रामीण समाज की आर्थिक श्रीवृद्धि को बढ़ावा देंगे । सामाजिक अभियंतन के इस महान् प्रयोग के परिणाम अंग्रेजों की आशा से बहुत भिन्न साबित हुए लेकिन इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । औपनिवेशिक व्यवस्था के तत्वाधान में स्थापित भारत के इस भूमि व्यवस्था ने भूस्वामी, रैयत किसान और कृषक मजदूर की त्रिस्तरीय संरचना की सृष्टि करने की बजाय उपसामंतीकरण की एक सोपानबद्ध तथा शोषक प्रणाली को जन्म दिया । इस समाज व्यवस्था के शीर्ष पर विस्तृत भूमि-खंडों के स्वामित्व के अधिकार से युक्त क्षेत्रीय कुलीन लोग आसीन थे । बीच के स्तरों पर रैयत किसानों के वर्ग थे, जिनके अस्तित्व का आधार जमीन में हक- दर-हक की सृष्टि का मूल जमींदारी का उपसामंतीकरण था । सबसे निचले स्तर पर बटाईदार, या मनचाहे तौर पर बेदखल कर दिए जाने वाले रैयत, अथवा कृषक मजदूर आते थे । ये लोग एक-दो एकड़ के छोटे-छोटे टुकड़े जोतते थे और इन्हीं के श्रम के बल पर मध्यवर्ती लोगों का विशाल वर्ग तथा शीर्ष पर आसीन क्षेत्रीय कुलीन ऐशो-इशरत की जिंदगी जीते थे ।

क्षेत्रीय कुलीनों की सृष्टि से जिन सामाजिक वर्गों का जन्म हुआ उनसे संबंधित ऐतिहासिक साहित्य का भंडार इतना अधिक समृद्ध है कि इस विषय की सरसरी चर्चा से ज्यादा कुछ करने की जरूरत नहीं है । इतना कह देना काफी होना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक इस पूरी व्यवस्था ने लगान अर्जित करने वाली ऐसी सोपानबद्ध संरचना का रूप ले लिया था जिससे न तो वे राजनीतिक और न आर्थिक लाभ हासिल हुए जिनकी आशा औपनिवेशिक राज्य ने की थी । इसलिए यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी के मध्य के आस पास अंग्रेज प्रशासकों ने इस उपमहाद्वीप पर अपनी सत्ता का आधार कायम करने के लिए ग्रामीण समाज के एक अन्य वर्ग तक पहुंचने की कोशिश की । अंग्रेजों को यह समझने में कुछ समय लगा कि ग्रामीण समाज में सत्ता के असली स्त्रोत वे प्रभुत्वशाली ग्रामीण जातीय समुदाय हैं जो वास्तव में खेती-बारी के काम की निगरानी करते हैं और गांव के कृषि अधिशेष पर अधिकार रखते हैं । इसलिए तथाकथित रैयतवारी व्यवस्था-चाहे इसे जैसे भी समतावादी मुहावरे में पेश किया गया हो- व्यवहारतः उन समृद्ध किसानों तक ही पहुंची जिन्हें किसी ने प्रभुत्वशाली जमींदार तो किसी ने ग्रामीण जमींदार कहा है । हमारा विश्वास है कि रैयतवारी व्यवस्था द्वारा संपोषित संपति के अधिकार पाकर गांवों के इन थोड़े- बहुत संपन्न लोगों ने औपनिवेशिक शासन के आधीन थोड़ी- बहुत पूंजी और ग्रामीण संपति अर्जित करने में कामयाबी हासिलकी । लेकिन उनमें से कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने जो कुछ पाया उसे उन साहूकारों के हाथों गंवा दिया जिनका ग्रामीण अर्थ व्यवस्था पर नियंत्रण था और जो कृषि उत्पादन तथा पूरी अर्थ व्यवस्था को एक-दूसरे से जोड़ने

वाली कड़ी का काम करते थे । लेकिन इससे बहु त अधिक दुखद स्थिति छोटे काश्तकारों की थी, जिनके पास या तो बहु त छोटी-छोटी जीते थीं या जो मनचाहे तौर पर बेदखल कर दिए जाने वाले काश्तकार या बटाईदार थे । दरअसल, इस बात के पक्के साक्ष्य उपलब्ध है कि ऐसे छोटे काश्तकार औपनिवेशिक शासन के अधीन खड़ी की गई जमींदारी और रैयतवारी दोनों व्यवस्थाओं में दरिद्र होते चले गए ।

औपनिवेशिक राज्य ने ग्रामीण समाज में सामाजिक पीरवर्तन आरंभ करने के अतिरिक्त शिक्षा-नीति में बदलाव लाकर भी अपने लिए वैधता का आधार तैयार करने की कोशिश की । समकालीन सामाजिक सिद्धांत ने इस बात का खुलासा बहु त अच्छी तरह किया गया है कि राज्य को- यहां सर्वसत्तावादी राज्य को भी-प्रजा के बीच अपनी वैधता को प्रतिष्ठित करने वाले उपकरणों की जरूरत होती है । शुद्ध भारतीय राज्य व्यवस्था के विकास के दौर ने ब्राहमणों तथा क्षत्रियों के एक-दूसरे का समर्थन करते वाले संबंधों में नैतिक तथा राजनीतिक सत्ता के पारस्परिक संबंधों की बहु त ही संवदेनशील अभिव्यक्ति हु ई । मध्यकालीन सदियों के दौरान भी यह परम्परा टूटी नहीं । उदाहरणार्थ, मुगल सम्राट राज्य की नीति के उपकरण के तौर पर विभिन्न धर्मों के पूज्य लोगों तथा धार्मिक संस्थाओं को मदद-ए-मआश बख्शने का खयाल रखते थे ।

औपनिवेशिक राज्य ने अपनी सत्ता को वैधता दिलाने के लिए बिल्कुल भिन्न प्रकार के उपकरण अपनाए । यद्यपि राजनीतिक समझदारी के तकाजे ने औपनिवेशिक प्रशासकों को धार्मिक संस्थाओं को अनुदान देने की युग-पोषित परम्परा में बहु त ज्यादा दखलंदाजी नहीं करने दी । किंतु भारत में जो नैतिक व्यवस्था सक्रिय थी, उसके प्रति उनका तिरस्कार का भाव छिपाए नहीं छिपता था । स्वदेशी नैतिक व्यवस्था की जड़ों को कमजोर करने के उद्देश्य से ऐसे प्रशासकों ने पश्चिमी सभ्यता में व्याप्त वैज्ञानिक, तार्किक तथा उपयोगितावादी मूल्यों का प्रचार करने के लिए शिक्षण संस्थाओं का एक नया ढांचा खड़ा किया । दीर्घकाल से यह मान्यता रही है कि अंग्रेजों द्वारा स्थापित शिक्षा की नई संस्थाओं का मुख्य कार्य औपनिवेशिक प्रशासन के मध्यवर्ती और निम्नवर्ती स्तरों के लिए सस्ता श्रम सुलभ कराना था । लेकिन हाल में यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है कि अर्द्ध-शिक्षित किरानियों की फौज तैयार करने से कही अधिक महत्वपूर्ण कार्य भारतीय बुद्धिजीवियों में औपनिवेशिक व्यवस्था के प्रति अनुराग जगाना था । इसलिए भारत में अंग्रेजों की शिक्षा-नीति का बुनियादी लक्ष्य एक ऐसा वैचारिक संसार सामने रखना था जिसने बुद्धिजीवी वर्ग को औपनिवेशिक राज्य के साथ सहयोगी संबंध स्थापित करने को प्रेरित किया ।

3.04.3 बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका

लेकिन जिस प्रकार अंग्रेजों का ग्रामीण समाज को अपने अनुकूल एक नए सांचे में ढालने का प्रयत्न विफल रहा था उसी प्रकार उनकी बुद्धिजीवी वर्ग को वैचारिक स्तर पर औपनिवेशिक शासन की ओर आकृष्ट करने की कोशिश भी नाकाम साबित हु ई बल्कि उसका तो उल्टा असर भी हु आ । राजधानियों, अर्थात् कलकत्ता, मुंबई और मद्रास में पाश्चात्य शैक्षिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं सबसे पहले स्थापित की गई । इन्हीं तीन नगरों में धीरे- धीरे बुद्धिजीवियों के ऐसे छोटे- छोटे समुदाय खड़े हो गए जो पाश्चात्य मूल्यों से अपने पीरचय को अंग्रेजों की वांछित सीमाओं से बहु त आगे तक ले गए यहां इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक है कि नए मूल्यों के प्रवाह के संबंध में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की प्रतिक्रियाएं अलग- अलग प्रकार की थी । इस वर्ग का एक छोटा- सा हिस्सा पाश्चात्य मूल्यों

से उत्पन्न 'प्रबुद्धता' की ओर आकृष्ट हुआ और उसने उदार मानवतावाद तथा ज्ञान एवं वस्तु बोध के स्रोत के रूप में तर्क- बुद्धि की प्रधानता के आधार पर अपनी सांस्कृतिक 'विरासत को नए सांचे में ढालने की कोशिश की । 'प्रबुद्धता' को अपना संबल बनाने वालों के विपरीत, बुद्धिजीवियों के एक अन्य हिस्से ने अपने समाज के अतीत को एक सर्वथा नया रूप देन के लिए रूमानी संवेदनशीलता का सहारा लिया । उनकी दृष्टि में अतीत का यह रूप समाज की समकालीन विशेषताओं को समझने एवं उसके भविष्य को नए सांचे में ढालने का सबसे कारगर साधन था ।

'प्रबुद्धता' को महत्व देने वाले वर्ग के शायद सबसे प्रखर प्रतिनिधि राजा राममोहन राय थे । इसी प्रकार, उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों पर रूमानी प्रभाव की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति बंकिम चंद्र की रचनाओं में हुई । लेकिन एक बात 'प्रबुद्धता' और 'रूमानियत' दोनों के हिमायतियों में मौजूद थी। तर्कमूलक आंदोलन के रूप में दोनों ने शिक्षित वर्गों को राष्ट्रवाद की ओर, यानी एक ऐसे मूल्य की ओर प्रवृत्त किया जो अब तक भारत के लिए अनजाना था । इन दोनों आंदोलनों ने उन्हें भारतीय सभ्यता की पुनर्रचना एक ऐसे राष्ट्रीय समुदाय के रूप में करने की प्रेरणा दी जिसका कालांतर में अंग्रेजी राज से पूर्णत: स्वतंत्र स्थिति प्राप्त करना अवश्यंभावी था ।

यद्यपि बुद्धिजीवी वर्गों के अंदर की कुलबुलाहट को सिर्फ 'पेट की राजनीति' से नहीं जोड़ा जा सकता, तथापि उन्नीसवीं सदी में भारतीय राष्ट्रवाद की यात्रा को अच्छी तरह से समझने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों की छानबीन करना भी आवश्यक है । भूस्वामी लोग, उदार पेशे से जुड़े लोग तथा वाणिज्य व्यापार में लगे लोग, इनमें से सबके सब एक तक तो ब्रिटिश व्यवस्था के अधीन फूले-फले, लेकिन कुछ ही समय बाद ऐसी स्थिति आ गई जब उनके लिए अंग्रेजों ने जो भूमिका तय की थी वह उन्हें रास नहीं आने लगी । इसके अतिरिक्त, उनके असंतोष ने इस उपमहाद्वीप में शीघ्र ही एक नए प्रकार की राजनीति को जन्म दिया । यह थी संघों की राजनीति, जिसने जाति, समुदाय और धर्म की पारंपरिक एकजुटताओं की मर्यादाओं को तोड़कर उनसे आगे जाने की कोशिश की, यद्यपि ये एकजुटताएं आगे भी अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती रहीं । नई राजनीति के हिमायतियों ने उन्नीसवीं सदी के दूसरे चरण में स्थानीय संघों की स्थापना से आरंभ करके उस सदी के तीसरे चरण तक पूरे देश में अपने संगठन कायम कर लिए । बल्कि 1880 वाले दशक में तो मध्य वर्गो ने अपने लिए एक अखिल भारतीय स्तर की संस्था भी बना ली थी, जिसका नाम था- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस । इस संस्था की स्थापना के लिए उदारवादी ब्रिटिश सिविल अधिकारी ए.ओ. ह्यूम ने पहल भले ही की हो, लेकिन उस पहल के पीछे बुद्धिजीवी वर्ग अथवा भूस्वामी या व्यापारिक अथवा पेशेवर वर्गो के लिए राजनीतिक अभिजन समूह के राष्ट्रवादी चेतना भी काम कर रही थी । एक अखिल भारतीय राजनैतिक संस्था की स्थापना करके राष्ट्रवादी वर्गो ने मानो अंग्रेजों को यह नोटिस दे दिया कि वह दिन दूर नहीं जब भारत पर उनकी हुकूमत को एक जबर्दस्त चुनौती का सामना करना पड़ेगा।

3.04.4 उपाश्रयी एवं आम वर्ग

हो सकता है कि मध्य वर्गो की प्रबल होती राष्ट्रीय चेतना को हम जरूरत से ज्यादा महत्व दे रहे हों क्योंकि इस विशेष हलके से बाहर भारतीय मानवता का वह विशाल समुद्र भी था जो इन हलचलों से बहुत हद तक अछूता था । कौन थे वे लोग, जिनके लिए आधुनिक भारत के एक इतिहासकार ने

'उपाश्रयी' शब्द का प्रयोग किया है? प्रथमत: तो उनमें छोटी-छोटी जोतों के काश्तकार मालिक या मनचाहे तौर पर बेदखल कर दिए जा सकने बाल काश्तकार अथवा बटाईदार या कृषक मजदूर शामिल थे । दूसरे, उनमें बड़ी संख्या में कारीगर वर्ग क लोग आते थे, जो या तो वस्तुओं का निर्माण करने के धंधों में लगे शहरों में केंद्रित थे या गांवों में बिखरे हुए थे । इसके अलावा इसमें कबायिली समुदायों के लोग शामिल थे, जो गांवों में बेहनियतों की तरह रहते थे, अथवा चरवाहों, शिकारियों या खान मजदूरों का काम करके जैसे-तैसे गुजारा करते थे ।

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि औपनिवेशिक शोषण ने इन उपाश्रयी वर्गो समाज के सबसे निचले तबकों को मध्य वर्गो की अपेक्षा बहुत अधिक दुःख दिया । सच तो यह है कि आरंभ में मध्य वर्गो ने ब्रिटिश शासन से लाभ ही उठाया । लेकिन उपाश्रयी लोगों पर राष्ट्रवादी विचारों को कोई असर नहीं हुआ था । प्रतिनिधि राजनीति में निहित संगठन के सिद्धांतों से वे नावाकिफ थे । स्थिति इस कारण से और भी उलझ जाती थी कि कई मामलों में उनका प्रत्यक्ष शोषण औपनिवेशिक राज्य नहीं, बल्कि मध्य वर्ग ही करते थे । इन सब कारणों से उन्नीसवीं सदी में, सामान्यत: स्थानीय स्तर के जनाक्रोश के ऐसे अनेक विस्फोट हुए जिनके माध्यम से उपाश्रयी वर्गो ने अपने भारतीय शोषकों या इन शोषकों को समर्थन देने वाले औपनिवेशिक शासन के खिलाफ अपना रोष व्यक्त किया । ऐसे विस्फोटों का एकमात्र अपवाद 1857 का महाविद्रोह था, जिसमें पारंपरिक नेताओं, अर्थात् जमींदारी और तालुकदारों के अधीन सामाजिक वर्गो ने एकजुट होकर अपने लिए विगत युग की राजनीति की बुनियाद पर खडा स्वतंत्र राज्य फिर से कायम करने की कोशिश की ।

राष्ट्रवादी आंदोलन के अधिक संवेदनशील नेताओं को यह समझते देर नहीं लगी कि जब तक वे भारतीय समाज के आम वर्गो को अपने साथ नहीं लेंगे तब तक उनका स्वतंत्रता संघर्ष खास प्रगति नहीं कर सकेगा । लेकिन उनका साथ कैसे प्राप्त किया जाए, यह बात बहुत दिनों तक उनकी समझ में नहीं आ पाई । यह याद रखना जरूरी है कि राष्ट्रवादी नेताओं की पहली पीढ़ी ने अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए मुख्य रूप से उदारवादी मुहावरों का सहारा लिया । जिन वर्गो ने पश्चिम के नए ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण किया था, उनके लिए तो राष्ट्रवाद की उदारवादी अवधारणा में बहुत अधिक आकर्षण था, लेकिन आम लोगों को अपनी ओर खींचने में वह सर्वथा अक्षम साबित हुई ।

मध्यवर्ती तथा उपाश्रयी वर्गो सबसे निचले वर्गो के बीच की खाई को पाटने का काम मोहनदास करमचंद गांधी ने किया, जो सचमुच महानायक की कोटि के राजनीतिक अभिनेता थे और जिन्हें समान्यत: भारत के स्वतंत्रता संघर्ष का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व माना जाता है । गांधी ने व्यापक आधार पर स्थित राष्ट्रवाद की संभावित बुनियाद के रूप में उदारवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया। इसकी बजाय उन्होंने भारतीय समाज में संन्यासियों को प्राप्त नैतिक शक्ति का सहारा लिया । इसी प्रकार उन्होंने भारतीय परंपरा में उपलब्ध सामाजिक कार्रवाई की एक और विधि का भी उपयोग किया। यह विधि थी सत्य पर आग्रह रखना और उसके लिए जो कष्ट सहना पड़े उसे खुशी सहकर प्रतिपक्ष को अपने दृष्टिकोण का कायल करना । साथ ही महात्मा (1920वाले दशक से वे महात्मा के रूप में विख्यात हुए) ने यह देखा कि भारतीय समाज के प्रेरणास्त्रोत उसकी सामुदायिक एकजुटता तथा धार्मिकता है, जिनका उपयोग ऐसा साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन खड़ा करने के लिए किया ना सकता है जिसकी शक्ति से निबटना अंग्रेजों को भारी पड़ेगा ।

3.04.5 विराट राष्ट्रवादी गठबन्धन

यहां हमारा इरादा गांधी ने नेतृत्व में चलने वाले देशव्यापी आंदोलनों पर खास विस्तार से विचार करने का नदी है । ये आंदोलन बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रवादी संघर्ष की मुख्य विशेषता के रूप में सामने आते हैं । इतना कह देना ही काफी होगा कि ऊपर जिन विचारधारात्मक मुद्दों का उल्लेख किया गया है उनसे इन आंदोलनों की व्यापकता और तीव्रता के कारणों को समझने में मदद मिलती है । यह याद रखना भी जरूरी है कि राष्ट्रवादी आंदोलन के विचारधारात्मक स्वरूप के अलावा, इस आंदोलन के और विशेषकर राष्ट्रवादी जनाक्रोश के आधार का काम भारतीय समाज के कुछ खास- खास वर्गों की सामाजिक तथा आर्थिक शिकायतों या सामाजिक एवं आर्थिक आकांक्षाओं ने भी किया । इन सबके फलस्वरूप एक विराट राष्ट्रवादी गठबंधन कायम हुआ, जिसमें हिंदू मुसलमान और सिख गरीब और अमीर, जमींदार और उद्योगपति, मध्यवर्ग और किसान दस्तकार-कारीगर और कबायिली लोग, सभी इस उपमहाद्वीप में एक संप्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र की स्थापना का उद्देश्य लेकर शामिल हुए । ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इस आंदोलन में शामिल विशाल जनसंख्या की दृष्टि से देखें तो विश्व इतिहास में शायद इससे बड़ा राष्ट्रवादी आंदोलन कभी नहीं हुआ ।

लेकिन यह विराट आंदोलन बहुत ही कमजोर नींव पर खड़ा था । प्रथमतः तो साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद के आधार के रूप में धार्मिक तथा सामुदायिक वफादारियों पर भरोसा करने की रणनीति के फलस्वरूप कोई समेट लेने वाली सर्वग्राही राष्ट्रीय पहचान, ऐसी पहचान जिसमें सभी समुदायों का समावेश हो- बनने की बजाय धार्मिक तथा सामुदायिक एकजुटता की ही वृद्धि हुई । अपने आंदोलन के आधार के रूप में आर्थिक शिकायतों या आर्थिक आकांक्षाओं पर भरोसा करने में गांधी के मिथक के परिणाम भी उतने ही अशुभ साबित हुए । महात्मा को भली भांति मालूम था कि जितने तनाव भारतीय समाज और औपनिवेशिक राज्य के बीच थे उतने ही भारतीय समाज के अंदर के विभिन्न वर्गों तथा समुदायों के बीच भी थे । इसलिए राष्ट्रवादी एकता तथा साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों का आधार आर्थिक प्रश्नों को बनाना बहुत अनिष्टकारी हो सकता था । अतः जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं गांधी ने अंग्रेजों के खिलाफ बीसवीं सदी के दूसरे चरण में छेड़े गए अपने महान् आंदोलनों का आधार लोगों के मन को छूने वाले रूमानी मुद्दों को बनाया ।

ऐसी व्यूह-रचना और रणनीति के तात्कालिक परिणाम अति नाटकीय साबित हुए । लेकिन एक राष्ट्रवादी गठबंधन में असमान शक्ति और सत्ता वाले वर्गो को जोड़कर महात्मा ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें यह तय था कि राष्ट्रीय आंदोलन में प्रधानता देश के नगरों, शहरों और गांवों के संपन्न लोगों की ही रहेगी । चूंकि राष्ट्रीय आंदोलन में आरंभ में ही दोष आ गया था, इसलिए वह एक अति प्राचीन सभ्यता को संश्लिष्ट राजनीतिक समुदाय का रूप देने का लक्ष्य प्राप्त करने में विफल रहा । सच तो यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ इस आंदोलन के जोर पकड़ते ही मुस्लिम समाज में अलगाववाद की भावनाएं उभर आई, और उसकी अभिव्यक्ति मुस्लिम लीग नामक एक राजनीतिक संगठन की स्थापना में हुई । उस संगठन ने यह दलील पेश की कि मुस्लिम समुदाय एक अलग राष्ट्र है । इसके अतिरिक्त कांग्रेस के अंदर संपन्न लोगों की शक्ति बढ़ती गई- यहां तक बढ़ती गई कि अक्सर आम वर्गों को राष्ट्रवादी आंदोलनों में शिकायत करने से भी वंचित रहना पड़ा । इसलिए जब भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व अपने अंत की ओर अग्रसर हुआ, तब राष्ट्रवादी आंदोलन की कमजोरी खासतौर पर उभरी और भारतीय समाज के विभिन्न वर्गो तथा समुदायों के बीच गंभीर विभेद उग्र रूप

से उभरे । इसलिए आश्चर्य नहीं यदि स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ब्रिटिश भारत-भारत तथा पाकिस्तान नामक दो संप्रभुता संपन्न राज्यों में विभाजित हो गया । इसी तरह यह भी कोई हैरत की बात नहीं थी कि एक शोषणमुक्त नई और ऊर्जान्वित दुनिया की सृष्टि करने का राष्ट्रवादी सपना 1947 के बाद के दशकों के दौरान महज एक सपना ही रह गया, जिस पर हम संद्य: विचार करेंगे ।

3.05 स्वतन्त्रता, समाज एवं संस्कृति

15 अगस्त, 47 भारत की जनता के लिए एक महान् विजय का दिन था, लेकिन इस विजय का अपना एक दुखांत पक्ष भी था । राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने ब्रिटिश भारत के प्रदेशों से, जिनमें भारत की विलक्षण सभ्यता फैली हुई थी, एक ऐक्यबद्ध राष्ट्र के सृजन की कल्पना की थी । किंतु भारत की जनता के एक बहुत बड़े भाग ने-मुसलमान- बहुल प्रांतों की मुस्लिम जनता ने-उस नई राज्य व्यवस्था से बाहर रहना पसंद किया जिसका जन्म 14 अगस्त, 1947 को रात के ठीक 12 बजे हुआ । ब्रिटिश भारत का विभाजन और पाकिस्तान का उदय राष्ट्रवादी आंदोलन की एक बड़ी विफलता थी, क्योंकि देश को हर कीमत पर एक रखने की उसकी कोशिश नाकाम हो गई थी । दरअसल इस विफलता के परिणामों को आज भी अनुभव किया जा रहा है-सो केवल भारत की अतिरेक राजनीति में ही नहीं, बल्कि दक्षिण एशिया के राष्ट्रों के आपसी संबंध के मामले में भी ।

अपने जन्म-काल से ही इस नए राज्य को विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा । 1946-47 के सांप्रदायिक उपद्रवों तथा पाकिस्तान की स्थापना के परिणामस्वरूप ऐसे बड़े पैमाने पर देशांतरण हुए जैसा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था । इस देशांतरण के फलस्वरूप जोलोग बेघर-बार हो गए थे, उनके पुनर्वास की समस्या के समाधान में देश के नेतृत्व को छठी का दूध याद आ गया । भारत की देशी रियासतों के भारतीय संघ में एकीकरण का प्रश्न भी कोई मामूली प्रश्न नहीं था । इस उपमहाद्वीप का लगभग चालीस प्रतिशत क्षेत्र और बीस प्रतिशत आबादी इन्हीं रियासतों में आती थीं और भारत में उनको मिलाएं बिना इस नए राष्ट्र का काम नहीं चल सकता था । इस एकीकरण को संपादित करने के लिए उच्चतम कोटि की राजनीतिक सूझबूझ से काम लेना पड़ा, यद्यपि इस प्रक्रिया से उत्पन्न कुछ प्रश्न खासकर कश्मीर का प्रश्न- आज भी समय-समय पर उभरते रहते हैं।

अगस्त 1947 में अंग्रेजों के 'भारत छोड़ देने' के बाद शायद जो सबसे बड़ी समस्या समाधान की राह देख रही थी वह थी, एक ऐसे संविधान की रचना जो इस नए राज्य की राजनीति के लिए बुनियादी नियम निर्धारित करता । ऐसा दस्तावेज मात्र चार वर्षो में तैयार किया जा सका, यह एक उल्लेखनीय सफलता थी । इससे उस समय राज-काज संभालने वाले नेताओं की परिपक्वता का परिचय मिलता है । इस संविधान ने भारत के विभिन्न भाषाई क्षेत्रों तथा धार्मिक समुदायों को एक संश्लिष्ट राष्ट्र राज्य में जोड़ने की कोशिश की, लेकिन साथ ही उसने भारतीय संघ क वैविध्यपूर्ण राज्यों को काफी स्वायत्तता भी प्रदान की एवं अल्पसंख्यकों तथा वंचित सामाजिक वर्गो को विशेष संरक्षण दिया। सत्तासीन सरकार का मार्गदर्शन करने के लिए कुछ निश्चित सिद्धांत निर्धारित करने के प्रयत्न में यह संविधान किसी भी अन्य संविधान से आगे था । इसी प्रकार उसने नागरिक के प्रति राज्य के दायित्व में नागरिक के इस अधिकार के प्रति खास सरोकार का समावेश किया कि वह बेरोकटोक अपने धार्मिक विश्वासों पर आरूढ़ रहे और भौतिक गरिमा से युक्त सामाजिक जीवन जिए ।

जिस औपनिवेशिक समाज पर सिवाय खुद के और किसी के भी प्रति जवाबदेही न रखने वाले नौकरशाही ने सौ साल से अधिक समय तक हुक्म चलाया था उसे इतने कम समय में स्व उदार राज्य व्यवस्था में रूपांतरित कर देना किसी भी मानदंड के अनुसार एक उत्कृष्ट उपलब्धि थी, इस उपलब्धि के पीछे कई कारण थे। पहली बात तो यह कि राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन करने वाले प्रमुख संगठन के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति लोगों के मन में काफी प्रेम था, जिससे देश में लोकतांत्रिक मूल्यों तथा संस्थाओं के प्रस्फुटन में बहुत सहायता मिली। इसलिए आश्चर्य नहीं यदि कांग्रेस के नेताओं-जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल तथा राजेंद्र प्रसाद जैसे लोगों ने वयस्क मताधिकार पर आधारित आम चुनावों का सामना बहुत ही आत्मविश्वास के साथ किया।

जिस समाज का विकास सीमित स्तर तक ही हुआ हो, उसमें वयस्क मताधिकार को दाखिल करके उस पर अमल करने के लिए असाधारण साहस की जरूरत थी। उदारवादी सिद्धांत के प्रतिपादकों ने इस बात की हिमायत की थी कि लोग मताधिकार समाज के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के स्तर से संबंधित होना चाहिए। किंतु जनता की सद्बुद्धि में दृढ़ विश्वास का परिचय देते हुए भारतीय संविधान के निर्माताओं ने करोड़ों नागरिकों के स्वतंत्र और निर्बाध मत को शासन का आधार बना दिया। उन्हें भारत में साक्षरता की बजाय व्यावहारिक शालीनता पर फूलने-फलने वाली संस्कृति में पूरा विश्वास था और शायद इसी विश्वास ने उनको यह कदम उठाने की प्रेरणा दी। राज्य व्यवस्था के बुनियादी ढांचे के रूप में वयस्क मताधिकार को अपनाने के पीछे चाहे जो कारण रहे हों, आरंभ से ही भारत में शासकों और शासितों के आपसी संबंध का आधार शासितों की राजनीतिक इच्छा थी, जिसकी अभिव्यक्ति आम चुनावों में होती थी। यहां चुनाव देश के शासकों को नैतिक वैधता भी प्रदान करते थे।

3.06 सारांश

हमारी मान्यता है कि सदियों के दौर में जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं भारतीय समाज की अपनी विलक्षण विशेषताएं बनी रही, उनका अनुभव उस समय की घटनाओं में हुआ जब कृषि क्रान्ति पहली बार हुई थी। सिन्धु-सरस्वती रख गंगा के मैदानों में बिखरे समुदायों की सामाजिक संरचना का जो स्वरूप बना वह मुख्यत: एक विकेन्द्रीकृत कृषि अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं का परिणाम था। परन्तु इसके साथ ही एक ओर शक्ति ने भी कार्य किया जिसने सामाजिक संगठन के जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये वे समाज की नैतिक तथा धार्मिक व्यवस्था के सिद्धान्त बन गये। जब कृषि के विकास के फलस्वरूप समाज के उत्पादक आधार का विस्तार हुआ तो उसी के साथ लोक कर्मकाण्डों के पुराधाओं का प्रस्फुटन चिन्तनशील बौद्धिक जनों और विशेषज्ञता प्राप्त पुरोहितों के रूप में हुआ जिनकी विश्व दृष्टि की अभिव्यक्ति हिन्दू समाज के मुख्य धर्म ग्रंथों में हुई। पुरोहित बुद्धिजीवियों के चिन्तन के अधिकांश में यथार्थ की आदर्शगत स्थिति प्रस्तुत की गयी लेकिन आदर्शवादी अवधारणाओं को भौतिक दृष्टिकोणों के सामने रखकर प्रस्तुत किया गया तो अनेक सांस्कृतिक संस्थाओं व परम्पराओं का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त कृषकों के साथ-साथ शिल्पियों एवं कारीगरों ने भी अपनी मान्यताओं व कार्य पद्धति को संवारते हुए सांस्कृतिक विचारों को जन्म दिया। सामूहिक संस्कृति इस काल में विकसित हो चुकी थी।

मध्यकाल में देशांतरणों के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता में नये बौद्धिक मूल्यों तथा भौतिक प्रौद्योगिकियों का समावेश हुआ। वास्तव में इस्लाम के आने के पश्चात् नये आराध्य देवों, अच्छे जीवन

की कल्पनाओं और सामाजिक संगठन तथा आर्थिक उत्पादन की नयी विशेषताओं को अपने अन्दर व्यवस्थित करने के लिए भारतीय संस्कृति के मानदंडों का निरन्तर विस्तार होता रहा । इस युग में जहां एक ओर विजयी योद्धा दलों द्वारा सुगठित राज्य व्यवस्था स्थापित की गयी वहीं दूसरी ओर आम वर्ग की सामाजिक व नैतिक दुनिया में बदलाव आने लगा । चूंकि यहां पहले से ही सभ्यता के अन्दर वैचारिक दृष्टिकोणों की प्रचुर विविधता थी इस कारण इस्लाम के प्रभाव को भी अन्तत: स्वीकार कर लिया गया । इस प्रभाव के सबसे समर्थ स्त्रोत सूफी सन्त सिद्ध हुए । उन्होंने इस्लाम की धार्मिक दृष्टि को करुणामय रूप दिया तथा साथ ही सब वर्गों के लिये ऊंच नीच का भेद मिटाकर ईश्वर का घट-घट व्यापी रूप प्रस्तुत किया । सूफियों के हिन्दू समाज पर बढ़ते प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म में एक अत्यन्त गंभीर महत्व का वैचारिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ । उन्होंने भी विशेषकर रामानन्द के शिष्यों जिनमें कबीर व तुलसीदास जी प्रमुख हैं, ने आम वर्गों के लिये भक्ति में मोक्ष का मार्ग दिखाने का उल्लेखनीय कार्य किया । शासकीय वर्ग भी समन्वय की नीति पर चलने लगा जिसकी अभिव्यक्ति त्यौहारों के अवसर पर आयोजित समारोहों में हुई ।

18 वीं एवं 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत की सामाजिक बनावट को छिन्न-भिन्न कर दिया । 18 वीं शताब्दी में भूस्वामी श्रीमंतों की अपेक्षा धनी किसानों का विकास अधिक हुआ । इस काल में सौदागरी अर्थ व्यवस्था भी खूब फलफूल रही थी । परन्तु वह सांस्कृतिक चेतना नहीं थी जो कि मानव शक्ति के श्रम के स्थान पर अन्य प्रकार की शक्तियों के प्रयोग को ला सकें । यहीं भारत की स्थिति ब्रिटेन से भिन्न थी । सम्भवत: भारत की विशाल आबादी और उसकी सामाजिक संरचना आर्थिक उत्पादन की प्रौद्योगिकियों के क्षेत्र में मौलिक उद्भावना के मार्ग में बाधक थी।

भारत के औपनिवेशिक समाज में आये परिवर्तनों को समझने के लिये ब्रिटिश आर्थिक हितों को पूरा करने के लिये जो नौकरशाही स्थापित की गयी तथा उसके साथ सहयोग के लिये स्थानीय भूस्वामी परिवारों से जो गठबन्धन किया, वह जानना जरूरी है । इस व्यवस्था से भारत में सामन्ती समाज व एवं संस्कृति ही पुन: दृढ़ हुई । अंग्रेजों ने एक दूसरे स्तर पर बुद्धिजीवी वर्ग को भी वैचारिक स्तर पर आकृष्ट करने की योजना बनायी लेकिन उसका तो उल्टा असर हुआ । परिणामस्वरूप भारतीय सभ्यता की पुनर्रचना एक ऐसे राष्ट्रीय समुदाय के रूप में करने की प्रेरणा दी जिसका कालांतर में अंग्रेजी राज से पूर्णत: स्वतंत्र स्थिति प्राप्त करना अवश्यम्भावी था । इनके, अतिरिक्त मानवीय मानवता का वह वर्ग जिसे आजकल 'उपाश्रयी वर्ग' कहा जाता है, ने भी शनै: शनै: अपने शोषकों के प्रति रोष प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया । यद्यपि विरोध की यह संस्कृति नयी नहीं थी परन्तु गठित रूप से एक लम्बे अन्तराल के बाद आयी । इनमें काश्तकार, कृषक मजदूर एवं कारीगर मुख्यत: सम्मिलित थे । महात्मा गांधी ने नैतिक मूल्यों के आधार पर समाज के मध्यम एवं आम वर्ग को एकजुट करके नयी राजनैतिक संस्कृति व चेतना को जन्म दिया । भारत की नयी राष्ट्रीय चेतना में इन वर्गों के अतिरिक्त सभी धर्म व वर्गो के लोग भी आने लगे । जिसका प्रभाव 1947 में मिली आजादी में देखने में आया । स्वतंत्र भारत ने भी विभाजन की पीड़ा भोगने के पश्चात् भी देशवासियों को वयस्क मताधिकार को प्रदान करके समन्वय संस्कृति को ही दृढ़ किया ।

3.07 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये:-

(1) प्राचीन भारत की कृषि क्रान्तियों ने समाज के गठन व चिन्तन को कहां तक प्रभावित किया।

(2) प्राचीन भारत के समाज में पुरोहित वर्ग की क्या स्थिति थी?

(3) 18वीं शताब्दी में भारतीय समाज में पूंजीवाद के विकास की क्या संभावनाएं थी?

(4) औपनिवेशिक काल में स्वाभाविक नेताओं की क्या भूमिका थी?

(5) स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्र के वृहत्तर सांस्कृतिक स्वरूप को प्रदान करने के क्या प्रयास किये गये ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये:-

(1) कृषि क्रान्तियों व प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज व संस्कृति को अलग-अलग कालों में किस प्रकार प्रभावित किया।

(2) बाह्य तत्वों ने हमारी सभ्यता व संस्कृति को किस प्रकार की रूपरेखा प्रदान की ।

(3) मध्ययुग में आम वर्गो की नैतिक स्थिति किस प्रकार थी ।

(4) गांधीजी ने विराट राष्ट्रवादी गठबन्धन को किस प्रकार प्रस्तुत किया व उसके क्या प्रभाव पड़े?

3.08 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

(1) रवीन्द्र कुमार, 'आधुनिक भारत', नई दिल्ली, 1995

(2) रोमिला थापर, 'फ्राम लिनिएज टू स्टेट', बम्बई, 1984

(3) एस. राधाकृष्णन्, 'इंडियन फिलॉसफी', लन्दन, 1923

(4) के.एम. अशरफ, 'लाइफ एण्ड कंडिशन ऑफ दी पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान', दिल्ली, 1958

(5) जी.सी पाण्डे, 'भारतीय समाज-तात्विक और ऐतिहासिक विवेचन', नई दिल्ली, 1994

(6) भगवत शरण उपाध्याय, 'भारतीय संस्कृति के स्त्रोत', नई दिल्ली, 1991

इकाई 4 भारत के मानवजातीय तथा भाषायी प्रतिरूप

इकाई- संरचना

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 मानवजातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों का सैद्धान्तिक संदर्भ
4.4 मानवजातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों का भारतीय परिदृश्य
4.4.1 ऐतिहासिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य
4.4.2 राज्य-निर्माण में योगदान
4.4.3 समसामयिक स्थितियां
4.5 राष्ट्रनिर्माण में मानवजातीय व भाषायी प्रतिरूपों की भूमिका
4.6 इकाई सारांश
4.7 अभ्यास-प्रश्न
4.8 संदर्भ ग्रन्थ

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप-

(i) किसी समाज की रचना में मानवजातीय व भाषायी कारकों की भूमिका व क्रिया-कलाप समझ सकेंगे,

(ii) भारतीय संस्कृति के परिवेश में इन कारकों की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक- राजनीतिक क्रियाशीलता का बोध कर सकेंगे, तथा

(iii) स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया में इन कारकों की प्रभावशीलता का आंकलन कर सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

कोई भी समाज कुछ सुनिश्चित तत्वों के संयोजन से बनता है । यह संयोजन प्राकृतिक व मानव- सृजित दोनों प्रकारों से आकार पाता है । प्राकृतिक परिवेश उस समाज की भौगोलिक रचना, जलवायु, मानवीय व मानवेतर संसाधनों, व्यवसायों व अभिवृत्तियों के लिए उत्तरदायी होता है जबकि मानव सृजित संदर्भ इन देय स्थितियों के आधार पर उस समाज को उसकी विशिष्ट आकृति व मानवोचित प्रबन्ध- क्षमता प्रदान करता है । इन दोनों, संयोजनों से ही संस्कृति व सभ्यता सतत् विकास पाती है, कलाएं व हस्तशिल्प विकसित होते है। तथा साहित्य, दर्शन व विज्ञान पल्लवित होते हैं ।

समाज प्राय: अनेक जीवन-शैलियों व उत्पादन प्रकारों का परिणाम होता है । ये अनेकताएं विविध मानवजातियों के जीवन-अनुभवों से प्रकट होती हैं तथा उनकी विशिष्ट बोलियों व भाषाओं द्वारा

अभिव्यक्त होती हैं । अत: समाज- रचना व उसके उत्तरोतर विकास में मानव जातियों व भाषाओं / बोलियों का बुनियादी महत्व है । किसी समाज की परिपक्वता इस बात पर निर्भर करती है कि वह इन विविधताओं को अपने व्यापक परिवेश में किस प्रकार एक साथ फलने-फूलने का अवसर देता है और उनकी वैशेषिक कार्य- क्षमताओं का कैसे और कितना विस्तार कर पाता है । बहु ल समाजों के संदर्भ में तो यह बात और अधिक खरी उतरती है ।

भारत एक बहु ल समाज है । भारतीय समाज की रचना व विकास में विविध मानव जातियों तथा भाषाओं का विशेष महत्व रहा है । उनकी परस्पर संयोजित अन्तःक्रियाओं ने भारत को "अनेकता में एकता" की संजीवनी प्रदान की है । यह संजीवनी ही भारतीय समाज को उसकी सतत् उत्तरजीविता सुलभ कराती आई हैं । इस इकाई में इसी भाव भूमि के आधार पर भारत के मानव जातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों की वैयक्तिक व अन्तःक्रियाशील समीक्षा की जाएगी । साथ ही इसमें समाज- रचना, राज्य-निर्माण व राष्ट्र निर्माण के संदर्भ में उनकी प्रभावोत्पादकता का भी सिलसिलेवार अध्ययन व आकलन समाहित होगा । इस चर्चा, से पूर्व मानव जातीय व भाषायी प्रतिरूपों के सैद्धान्तिक पक्षों की विवेचना को भी बेहतर समझ के लिए आवश्यक माना जा रहा है । पुष्ट अवधारणा के बल पर ही पौष्टिक समाज प्रक्रियाओं को बेहतर संसाधित किया जा सकता है ।

4.3 मानवजातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों का सैद्धान्तिक संदर्भ

कोई भी मानवजातीय समूह किसी समाज का एक ऐसा अंश होता है जिसके सदस्य स्वयं तथा अन्य लोग भी उनकी समान उत्पत्ति के प्रति आश्वस्त होते हैं । इसके अतिरिक्त, ऐसे समूह सदस्य किसी संस्कृति विशेष की प्रक्रियाओं में भी समान सहभागिता प्रकट करते हैं और इस सहभागिता के आधार पर अपना सामाजिक-सामूहिक जीवन चरितार्थ करते हैं (जे. मिल्टन यिंगर, एश्निसिटी, पृ. 3) । मानवजातीय समूहों के संदर्भ में एक अन्य परिभाषा सम्बन्धी बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह कि कुछ मानवजातीय समूह 'कठोर' होते हैं जबकि कुछ 'शिथिल' । 'कठोर' समूह वे होते हैं जिनके सामाजिक- सांस्कृतिक संवेग अत्यधिक प्रबल और उच्च होते हैं । 'शिथिल' समूहों में ये संवेग प्राय: निर्बल होते हैं । उनकी रचना मूलत: प्रशासनिक या वर्गीकरण करने के उद्देश्य से ही आकार पाती हैं। मानवजातीय समूहों का 'कठोर' प्रकार अत्यधिक संगठित होता है, उसकी संस्थात्मक स्थिति सुदृढ़ व कर्म-कौशल से युक्त होती है और उनमें विचारधारा का प्रबल समावेश होता है । ऐसे समूह किसी भी समाज में उसके सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित व परिचालित करते हैं। इनके विपरीत, 'शिथिल' मानवजातीय समूहों में उनकी आकृति-रेखायें कम विकसित होती हैं, उनकी सीमाएं एवं क्षेत्र अपेक्षाकृत कम निर्धारित और साथ ही उनमें विचारधारा का समावेश भी बहु त कम होता है । ऐसे समूह किसी भी समाज की परिधि पर ही विद्यमान रहते हैं और सदैव परिधि पर ही जीने को अभिशप्त होते हैं । 'कठोर' मानवजातीय समूहों में इंग्लैण्ड के अन्तर्गत एंग्लो- सेक्शन समूह को रखा जा सकता है जबकि भारत में हिन्दू एवं मुस्लिम समुदायों को ।'शिथिल' मानव जातीय समूहों में रूस के अन्तर्गत बाल्टिक राज्यों के निवासियों को सम्मिलित किया जा सकता है । 'कठोर' मानवजातीय समूह यदि राजनीतिक नहीं तो सामाजिक- सांस्कृतिक वर्चस्व से अवश्य सम्पन्न होता है जबकि 'शिथिल' समूह न तो कोई विशेष राजनीतिक प्रभावशीलता क वाहक होते हैं और न ही सामाजिक- सांस्कृतिक सत्ता के प्रतिनिधि ।

समाजों से मानवजाति समूहों के सम्बन्धों को प्रमुखत: चार प्रकारों में परीक्षित किया जा सकता है:

(अ) कोई समाज औपचारिक रूप से कुछ समान मानवजाति समूहों से मिल कर बन सकता है,

(ब) किसी समाज में प्रमुख राष्ट्रीय संस्कृति के व्यापक परिवेश में उसके इर्द-गिर्द सुस्पष्ट सीमाओं युक्त मानवजाति समूह संरचित हो सकते हैं,

(स) किसी समाज में किसी बाह्य मातृ-समाज (मदर सोसाइटी से) अभिमुख मानव जाति समूहों का अस्तित्व भी सम्भव है, तथा

(द) किसी समाज के व्यापक परिवेश में कुछ सुनिश्चित मानवजाति समूह वंचित अल्पसंख्यकों के रूप में " कैद" उपस्थित हो सकते हैं ।

सामाजिक रचना-क्रम में मानवजाति विषयक ये प्रकार परस्पर पृथक नहीं हैं । यह सम्भव है कि विविध अंशों में कोई समाज इन प्रकारों के एकाधिक स्तरों का एक साथ प्रतिनिधित्व करें । उदाहरणार्थ, अमेरिकी समाज उक्त सभी प्रकारों का एक साथ समावेश प्रकट करता है । वहां ये सभी प्रकार एक दूसरे की सम्पूर्ण क्रियाशीलता को बाधा पहुंचाते दिखाई देते हैं यद्यपि वे एक दूसरे को पूर्णत: क्रिया मुक्त भी नहीं कर पाते । वास्तव में ये प्रकार वैचारिक स्पष्टता की दृष्टि से ही अधिक प्रेरित हैं ताकि मानव जाति समूहों के प्रति प्रभाव शाली समझ विकसित की जा सकें ।

प्रस्तुत चित्र (सं. 1) में मानवजाति समूहों के ये प्रकार दर्शाये गए हैं:-

चित्र संख्या- 1

(अ) अनेक मानवजातीय समूहों से निर्मित समाज

(ब) मूल सांस्कृतिक समूह के इर्द - गिर्द समाज एकत्रित मानवजातीय समूहों से बना समाज

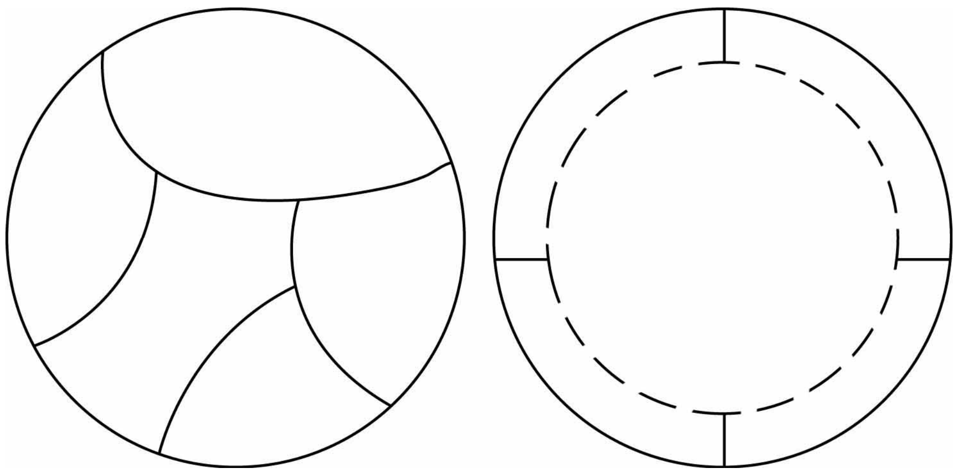

(स) बाह्य अभिमुखीकरण से युक्त किसी मानवजाति समूह को स्माविष्ट करता एक समाज

(द) किसी एक अथवा एकाधिक वंचित मानवजाति समूह को समाविष्ट करता मानवजातीय अल्पसंख्यकों से युक्त एक समाज

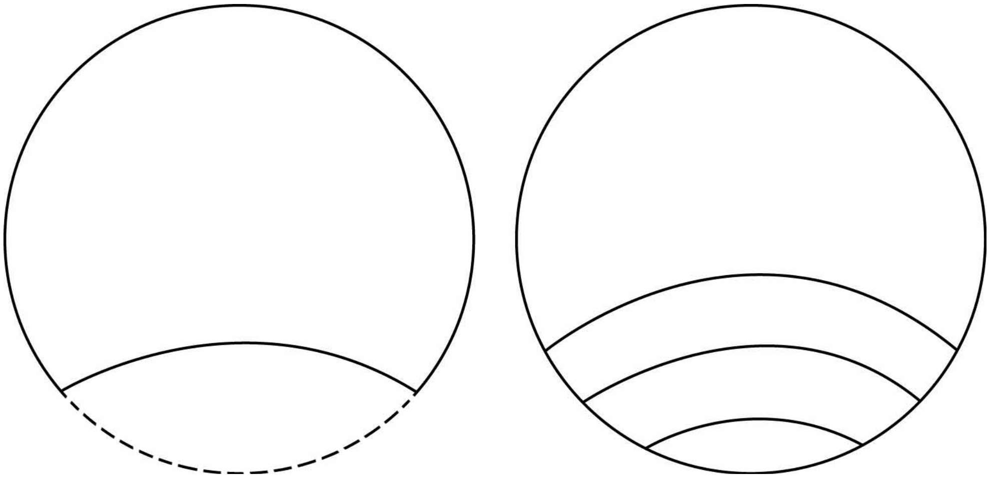

बहु-मानवजातीय समाजों के प्रकार

(सौजन्य: जे. मिल्टन यिन्गर, एथ्निसिटी, पृ. 6)

मानवजाति समूह के नस्ल, राष्ट्र तथा अल्पसंख्यकों के साथ सम्बन्धों पर भी संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है । नस्ल को प्राय: मानवजातीयता के निर्धारण का एक पारिभाषिक तत्व माना जाता है यद्‌यपि देश व काल की सीमाओं के संदर्भ में यह मापदण्ड अथवा कसौटी काफी बदला स्वरूप अंगीकार करती है । मानवजातीयता में नस्ल के पक्षों की परीक्षा निम्नलिखित चार कथनों पर आश्रित है:

(i) एक अनिवार्यत: समरूपी मानव जाति में नस्ल-भेद गौण जैविक परिवर्तनों के परिचायक हैं,

(ii) विकास की प्रक्रियाओं तथा उनसे प्रकट पारस्परिक मिलन के द्‌वारा नई नस्लें लगातार आकार पाती हैं और पुरानी क्रमश: रूपांतरित होती जाती हैं ।

(iii) सामाजिक विश्लेषण की दृष्टि से उत्पत्ति मूलक अंतरों की अपेक्षा नस्लों के प्रशासनिक व राजनीतिक वर्गीकरणों सम्बन्धी विश्वास अधिक केन्द्रीय महत्त्व रखते हैं, तथा

(iv) सामाजिक अन्त:क्रिया में नस्ल प्रधानतः इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि नस्ली अंतरों तथा सांस्कृतिक सामाजिक विषयक भेदो में सामान्यत: सह-सम्बन्ध दिखाई देता है । यह सह-सम्बन्ध अतीत व वर्तमान दोनों को परस्पर संयुक्त करता प्रकट होता है ।

ये चारों कथन किसी न किसी रूप में नस्ल व मानवजातीय समूहों के परस्पर व्यापी सम्बन्धों का संकेत देते हैं ।

यह परस्पर व्यापन मानवजाति समूहों तथा राष्ट्र की अवधारणा व प्रक्रिया से भी चरितार्थ होता है । राष्ट्र मानव जाति समूह का पर्याय नहीं है यद्‌यपि उसे अक्सर ऐसा करार दिया जाता है। राष्ट्र को प्राय: ऐसे मानवजाति समूहों के रूप में देखा जाता है जो राज्य पद (स्टेटहुड) के इतिहास व पौराणिक विश्वासों अथवा राज्य विषयक सशक्त आकांक्षाओं द्‌वारा परिभाषित होता है ।

राष्ट्र और मानव जातीय समूहों के परस्पर व्यापी सम्बन्धों के लिए अनेक घटक उत्तरदायी माने जाते हैं- जैसे समान उत्पत्ति का मिथक या "समरूपी चेतना का एक सुनिश्चित भाव", राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपना पूरा हिस्सा पाने की लालसा का परिचायक "उत्तर-औद्योगिक मूल्यों" का भाव तथा शहरी औद्योगिक दुनिया में अधिक अवसर पाने का "तार्किक चयन" का भाव । इनमें से चाहे कोई भी भाव चाहे कितना भी प्रभावी हो, राष्ट्र और मानव जातीय समूहों का परस्पर व्यापी पक्ष उनसे हर स्थिति में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रकट होता है ।

इसी प्रकार, अल्पसंख्यकों तथा मानव जातीय समूहों के बची अनेक सीमा क्षेत्र एवं विभाजक-रेखाएं समानार्थक हैं । अल्पसंख्यकों को प्राय: ऐसा गैर-प्रभुत्वशाली समूह माना जाता है जो अन्य जनसंख्या के क्रम में अपनी स्वतंत्र व स्थायी मानव जातीय धार्मिक व भाषायी परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने के इच्छुक होते हैं । वे जटिल राज्य समाजों में अधीनस्थ दर्जा प्राप्त होते हैं, प्रभावी सामाजिक तबके उनके भौतिक व सांस्कृतिक लक्षणों को प्राय: हेय अथवा नीची दृष्टि से देखते हैं, ऐसे वर्ग "आत्म-चेतनशील" इकाईयों के रूप में अपनी पृथक्कताओं से युक्त अपने संसार में स्वैच्छिक आधार पर "कैद" रहने के पक्षधर होते हैं और अपने इस संसार के भीतर से बाहरी दुनिया की ओर अपनी मर्जी और सुविधा से नजर दौड़ाते और लोकाचार स्थापित करते दिखाई देते हैं, (अंततः) इस दुनिया को सतत् बनाए रखने की फिराक में वे अपने ही वर्ग के भीतर विवाह आदि रिश्ते निर्धारित करते हैं।

नस्ल, राष्ट्र व अल्पसंख्यकों से मानवजाति समूहों के परस्पर व्यापी सम्बन्धों के क्षेत्र का आभास चित्र सं. 2 से उपलब्ध होता है :

चित्र संख्या - 2

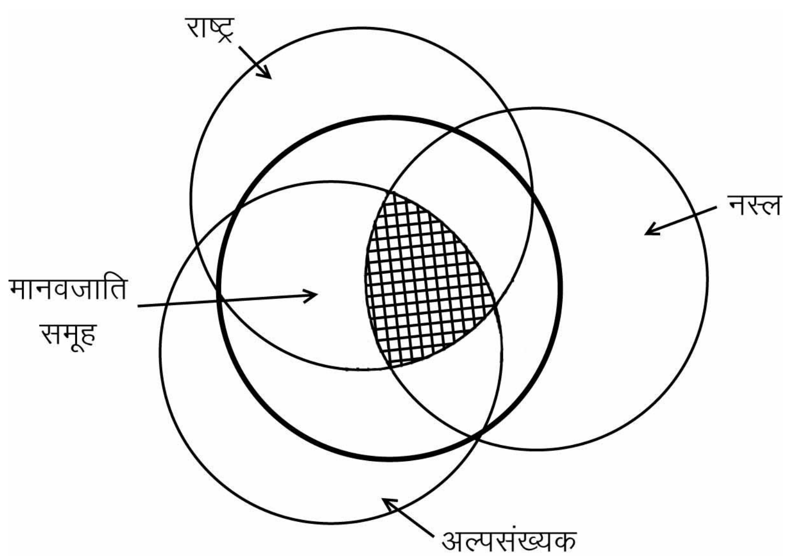

मानवजाति समूह, राष्ट्र, नस्ल तथा अल्पसंख्यकों के मध्य परस्पर सम्बन्ध
(सौजन्य : जे. मिल्टन यिन्गर, **एथ्यिसिटी**, पृ. 25)

किसी समाज की मानवजातीय सीमाओं के निर्धारण में भाषा का तत्व एक प्रधान कारक होता है । 'मातृ-भाषा' एक ऐसा वाक् प्रकार (स्पीच वेराइटी) होता है जिसका किसी समुदाय के सदस्य उस समुदाय के भीतर परस्पर सम्प्रेषण के लिए प्रयोग करते हैं । यह प्रयोग छोटे स्तर पर परिवार के बीच सम्प्रेषण का परिचय देता है जबकि अधिक व्यापक स्तर पर मातृभाषा का प्रयोग सामुदायिक स्तर पर सगोत्रीय सम्प्रेषण को चरितार्थ करता है (के.एस. सिंह तथा . मनोहरन, **लेंग्वेजेज़** एण्ड स्क्रिप्ट, 1997) । मातृभाषा के संदर्भ में भाषायी अस्मिता एक सामाजिक भाषा शास्त्रीय यथार्थ का निर्माण करती है । साथ ही, उससे किसी सामाजिक समूह की भावात्मक आत्म-चेतना का भी बोध होता है । मातृभाषा के प्रयोग से समुदाय में अवस्थित व्यक्ति एक विशिष्ट सामाजिक व भावात्मक अस्मिता प्राप्त करता है । इस प्रकार, मानवजाति समूह तथा भाषायी अस्मिता का परस्पर गहरा सम्बन्ध है ।

4.4 मानवजातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों का भारतीय परिदृश्य

4.4.1 ऐतिहासिक- सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय संस्कृति एक ऐसा महासागर है जिसमें विविध जातियों की निजी संस्कृतियां अपने नदी- रूप में आकर समाती रही हैं । भारत में व्याप्त हरियाली इन नदियों की ही देन रही है जबकि संस्कृति का महासागर भारतीयता की अथाह गहराई और उत्तंग उछालों के वेग का प्रतिनिधि रहा है । हर संस्कृति की स्वायत्तता तथा संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन (एक दूसरे पर निर्भरता) भारतीय इतिहास का एक स्पष्ट तथ्य हैं जिसने भारतीय समाज पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है । भगवत शरण उपाध्याय ने इस तथ्य को कुछ इस प्रकार प्रतिपादित किया है :

> **"धरा पर कोई ऐसा देश नहीं जिसे भारत का-सा प्रकृति का आशीष उपलब्ध हो । अनगिनत कबीलों ने-सभ्य भी बर्बर भी, भारत की सीमाएं लांघ कर इस देश में प्रवेश किया, यहां के सामाजिक ताने-बाने में अपनी नयनाभिराम छबियां डाली, स्वयं इसमें विलीन हो गए, उसे उसकी अद्‌यावधि अनजानी अपनी विचित्र खांदरिया की शक्ति प्रदान की । कशीदे पर कशीदे गढ़ते गये, सामाजिक संगठन के वितान में रंगों की नयी बहार आई ।**
>
> **भारतीय संस्कृत अन्तहीन विभिन्न जातीय इकाईयों के सुदीर्घ संलयन का प्रतिफलन है । उसके निर्माण में विभिन्न जातियों का अत्यन्त विविध, व्यापक और गहन योग रहा है उसके असंख्य रूप विभिन्न आधारों से उठे हैं, किन्तु जैसे ही उन्होंने भारत भूमि का स्पर्श किया है वैसे ही उनकी विजातीयता विलुप्त हो गयी है, उनका परायापन खो गया है ।"**
>
> (भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय **संस्कृति के स्रोत,** पृ. 9 -10)

इस खण्ड में भारतीय संस्कृति व इतिहास क क्रम में विविध जातियों व भाषाओं के अवदान की सार-रूपी चर्चा की जा रही है । इस चर्चा का उद्देश्य आपका इस ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सत्य से परिचित कराना है कि भारत एक बहु-जातिय व बहु भाषी समाज है, 'अनेकता में एकता' भारत का जीवन्त आदर्श है तथा भारतीयता वास्तव में एक 'इन्द्र धनुष' है जो सात रंगों की मिली जुली, सत्ता को अभिव्यक्त करती है । भारतीय जीवन 'सात रंग के सपने' बुनने और जीवन की चादर पर उन रंगों

की डिजाइन उतारने में हमेशा तत्पर रहा है । परस्पर प्रभावों की इस मिल्कियत को 'पराए पन' का कोई भी बार तोड़ नहीं सकता ।

आर्यों के उत्थान से पूर्व भारत में आदि-आस्त्रिक व द्रविड़ जातियां विद्यमान थी । आदि-आस्त्रिक अनुमानत: भूमध्य सागरवर्ती क्षेत्रों से आकर यहां बसे । भारत में मिट्टी के बर्तन बनाने की कला का प्रवर्तन तथा कुदाल और हल द्वारा खेती का व्यवहार उन्हीं का योगदान है; भाषा की दृष्टि से 'बाण' शब्द आदि- आस्त्रिकों ने ही आर्यों को भेंट किया । चंद्र- गणना, तिथियों तथा दूज के चाँद के वैशेषिक शब्द 'राका' और 'कुहू' उन्हीं के माध्यम से आर्य शब्द-भण्डार में जुड़े । द्रविड़ लोगों द्वारा विकसित हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की आर्य-पूर्व सभ्यताएं अत्यधिक सुसम्पन्न एवं सुसंस्कृत थीं । क्या आप यह जानते हैं कि हिन्दुओं में आम तौर पर प्रयुक्त शब्द 'पूजा' वास्तव में द्रविड़ों की भाषा में प्रचलित 'पू' से जन्मा था जिसका अर्थ होता है फूल (पुष्प)? यह भी उल्लेखनीय है कि द्रविड़ों की अनसिली पोशाकें, जैसे धोती और दुपट्टा, बाद में आयी की व्यक्तिगत ऊनी व सूती पोशाकों के रूप में प्रयुक्त होने लगी ।

आर्यों की संस्कृति मूलत: एक समन्वित संस्कृति थी । उसने न केवल भारत में अपने उत्कर्ष के दौरान द्रविड़ों का प्रभाव स्वीकार किया बल्कि भारत में प्रसार के क्रम में अन्य सभ्यताओं और भाषाओं के सांस्कृतिक प्रभाव को भी परिलक्षित किया । वेदों में, विशेषत: अथर्ववेद में, प्रस्तुत जादू- टोने के मंत्र सुमेरी व काबुली सभ्यताओं में प्रचलित शब्दों का ही प्रतिरूप है । उदाहरण के लिए सुमेर के उर नगर की खुदाई के दौरान वहां के राजवंश के दो नाम **एलुलु** और **बेलुलु** भारत में बाद में प्रचलित अलाय और बलाय हो गए । काबुली भाषा का 'ताबुवम्' कालांतर में आर्यों और इस्लामियों का तोबा बन कर प्रचलित हुआ । ऋग्वेद में प्रस्तुत येहोवा का अक्षर विन्यास यूनानियों के येहोवा से ठीक मिलता-जुलता सा है। यह येहोवा एकेश्वरवाद का प्रतीक था और अपने इस रूप में वह ई. पू. तेरहवीं शताब्दी के मिस्र-राजा इखनातून और नवीं शताब्दी ईस्वी के वेदान्त-व्याख्याता शंकर, दोनों का समान आदर्श था ।

इराक से प्रकट और ईरान तक फैले असुरों ने भी भारतीय आर्यों को बहुत कुछ दिया है । उनका दण्ड-विधान कालिदास के **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** से भी अभिसमर्थित है। भारतीय विवाह प्रकारों में एक प्रकार असुर- विवाह का भी उपलब्ध है। असुरों ने अपने यहां शिलालेख और स्तम्भ- लेख प्रचलित किए जिनकी कालांतर में भारतीय राजा अशोक महान् ने अनुकृतियां की । फिनिशी लोग भी असुरों क समकालीन थे। आज का लेबनान उनका उस समय का निवास स्थान था। भारत में आई 'मीनाकारी' फिनिशियों का ही योगदान है। व्यापार में अपनाई गई 'हुण्डी' प्रणाली भी फिनिशी व्यापारियों के प्रचलन का परिणाम है । पूजा और कर्मकाण्ड में बलि का प्रयोग आर्यों को फीनिशियनों से ही प्राप्त हुआ ।

भारत को उसकी **खरोष्टी** लिपि भी ईरान से मिली । इस लिपि का अशोक ने पर्याप्त प्रयोग करवाते हुए उसे अपने शिलालेखों में अंकित करवाया । बिना कक्ष के मंदिरों के लिए संस्कृति में प्रयुक्त 'शब्द **जरूक** वास्तव में ईरानी शब्द **जग्गुरत** का ही अपभ्रंश है । मूर्तिकला, चित्रकला व वास्तु-शिल्प के अनेक प्रतिमान भारत को ईरान से मिले और उन्हें भारत ने निस्संकोच अपनाया भी । भारतीय सिक्कों पर कनिष्क ने अनेक फारसी देवी-देवताओं को अंकित करवाया जैसे **मीइरो** (सूर्य) तथा **माओ** (चन्द्र) ।

यूनानियों और रोमनों ने भी भारतीय संस्कृति व सभ्यता को बहुमूल्य प्रभाव दिए गदय शिल्प में यवन की भूमिका और यवनिका (पर्दे) का प्रयोग भारत को यूनानियों से मिला। अर्थशास्त्र में कौटिल्य

ने राजा को यह सलाह दी कि वह सुबह उठ कर सबसे पहले यवनियों में से किसी का दर्शन करे। यवनियों की परिचायिका भूमिका और मद्यपान में उनका साकी का रूप भारतीय महलों में एक आम बात थी। यवन लिपि से योग सूत्र के भाष्यकार पतंजलि भली भांति परिचित थे। ज्योतिष के क्षेत्र में वराहमिहिर ने ज्योतिर्मण्डलों, ग्रहों और राशि-चक्रों के लिए यूनानी नामों का ही प्रयोग किया। संस्कृत के ज्योतिष शब्द- **होरा, पनफर, अपोक्तिम्ब, हिबुक, त्रिकोण, जामित्र और मेसुरण वास्तव में यूनानी भाषा के होरा, एपनफोरा, अपोकिलमा, हिबुक, त्रिकोन, दियोमेत्रोन और मेसुरन** ही हैं। यह सूची कल्पनातीत है।

यूनानियों के बाद शक प्रभाव भी भारतीय मूलधारा में रच- बस गया। भारत में सूर्य-उपासना व सूर्य मन्दिरों का निर्माण, सूर्य-उपासना के लिए शकद्वीपी ब्राह्मणों का भारत में आगमन और सती-प्रथा की और अधिक कट्टर अनुपालना शक प्रभाव का ही परिणाम है। काल- गणना की दृष्टि से शक संवत तो आज भी एक राष्ट्रीय काल गणना मानक बना हुआ है। राजनीति में प्रचलित 'क्षत्रप' शक **सत्रप** ही थे।

कुषाणों से भारत को **नाशपाती** और **लीची** की खेती मिली । गुर्जरों से प्राप्त 'गुर्जरी' बोली ने आज की गुजराती भाषा को जन्म दिया । हूणों से भारत को 'जौहर' मिला जिसका अर्थ था आग और प्रकाश ।

इस्लाम के सम्पर्क और उससे प्रकट प्रभाव के कारण भारत ने दर्शन, कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य व भाषा के क्षेत्रों में अपूर्व सम्पन्नता अर्जित की । दर्शन के क्षेत्र में सूफीवाद ने समन्वय का एक नया मानक ईजाद किया और हिन्दू-मुसलमानों को आपस में जोड़ा । पाटन के एक सूफी संत थे सैयद मुहम्मद ब्राह्मण । अस्सासीन संतों में से एक शेख सदरूद्दीन ने एक समन्वित पथ बनाया और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को इस्लाम का पैगम्बर बना दिया । ऐसी ही उदारवादी भाव भूमि पर मलिक मोहम्मद जायसी ने सोलहवीं शताब्दी में अवधी में पद्मावत काव्य की रचना की ।

संगीत में इस्लामी प्रभाव से ठुमरी, दादरा, कव्वाली व ध्रुपद गायकी ने नई बुलंदियां हासिल की । नृत्य में कत्थक शैली का विकास सम्भव हुआ । मुसलमानों की मदद से ही **शहनाई** गूंजी और **नौबत** बजी ।

वास्तुशिल्प में हिन्दू-मुस्लिम समन्वय आज भी अनगिनत मकबरों, महलों, किलों तथा मस्जिदों के रूप में बरकरार है । मीनारों में दिल्ली की कुतुब मीनार, दरवाजों में सीकरी का बुलंद दरवाजा, मस्जिदों में मोती और जामा मस्जिदें तथा मकबरा में आगरा का ताज मकबरा (ताजमहल) विश्व विख्यात है।

उर्दू भाषा हिन्दू-मुस्लिम लोकाचार का परिणाम थी। मुंशी प्रेमचंद ओर जयशंकर प्रसाद अपने भाषा-शिल्प की दृष्टि से उर्दू के घेरे में आते थे । विदेशी भाषाओं के हजारों शब्द उर्दू के जरिए आज हिन्दी में पहुंच गए हैं और वो हमारी जिंदगी में इतना घर कर गए हैं कि उनके बिना अब हमारी कोई गुजर नहीं है। बन्दूक, तोप, कागज, जागीर, माफी, नजराना, आग, गबन, संगीन, बादशाह, बहस, जमानत, जब्त, सलवार, कुरता, मोजा, लुंगी, तहमद, कमीज, प्याला, सुराही, प्याज, कालीन, गलीचा, हजामत, अस्तर, इस्तरी, नगीना, सलमा-सितारा, तवाजा- क्या इनका हमारी हिन्दी में कोई सानी है? क्या गांधीजी का चरखा और हमारे तवे की रोटी हमसे दूर हो सकते हैं ?

भाषायी आदान-प्रदान ऐतिहासिक क्रम में विदेशों से भारतीय भाषाओं तक ही सीमित नहीं रहा । वह भारतीय भाषाओं से होते हुए विदेशी भाषाओं तक भी फैला । भारतीय भाषाओं से अंग्रेजी ने क्या कुछ कम ग्रहण किया है । उसमें प्रचलित शब्द जैसे जंगल, लूट, राज, कुली क्या कम भारतीय हैं? सत्य तो यह है कि मानवजातीयता तथा भाषायी अंतरगुम्फन साथ- साथ चलते हैं । उनकी सहयात्रा से जीवन अधिकाधिक समृद्ध होता आया है । भारत इस सत्य की आंच से लगातार तपा और मजबूत हुआ है ।

मानवजातीय समूह तथा भाषा के समन्वित योगदान का अंतिम सांस्कृतिक उदाहरण यूरोपीय, विशेषत: ब्रिटिश हैं । इस प्रभावशाली योगदान का उल्लेख करते हुए भगवत शरण उपाध्याय ने यह स्पष्ट किया है कि " ...राष्ट्रवाद का बोध राजनीतिक-भौगोलिक एकता, स्वतंत्रता-प्रेम- इस सम्पर्क के ये कुछेक ही नतीजे हैं । राजनीति, सामाजिक जीवन ओर औद्योगिक प्रयत्नों के क्षेत्र में, कला और साहित्य पर, वस्तुत: दृश्य और अदृश्य सभी वस्तुओं पर उनका प्रभाव महसूस किया गया । उनके विज्ञानों ने भारतीय जीवन को पूर्णतर और सुगमतर बनाया । उनका साहित्य हमारे साहित्यकारों की कृतियों में से झांकता है और उनकी साहित्यिक धाराओं ने प्रयोगों के नये आयाम खोले हैं । हम उन्हीं की लाइनों पर अपनी संसद और विधायिकाएं, न्यायालय और शिक्षा संस्थाएं चला रहे हैं. उनके प्रयत्नों से हमारे अतीत का गौरव उद्घाटित हुआ है । (उपाध्याय, **पूर्वोक्त,** पृ. 119)

4.4.2 राज्य-निर्माण में योगदान

सांस्कृतिक प्रभावों के स्थायित्व के साथ ही ये मानवजातीय समूह धनोपार्जन साधनों की दृष्टि से कृषि पर आधारित थे । कृषि के लिए आवश्यक प्रौद्योगिकी भी भारत में कालस्थायी थी । इस कारण औद्योगीकरण के विस्तार से पूर्व भारतीय समाज में एक निश्चितता और स्थिरता का भाव प्रभुताशाली रहा । सामाजिक स्तर पर लोग आते रहे और खेती- बाड़ी में जुटते गए । इस क्रम में उनके सांस्कृतिक-सामाजिक व्यापार ठोस धरातल पर पनपे । उनमें लोकाचार लगातार बढ़ता रहा । राजनीतिक दृष्टि से स्थानीय और क्षेत्रीय प्रबन्ध शैलियां अधिक मुखरित हुई । गौरवशाली ऐतिहासिक प्रसंगों ने बीच-बीच में काफी अंशों में अखिल भारतीय स्तर पर राज्य-निर्माण तथा राज्य-प्रबन्ध भी चरितार्थ किए (जैसे- मौर्य व गुप्त साम्राज्य) । उनकी अनुपस्थिति ने शून्यता का व्यापक आभास नहीं कराया क्योंकि स्थानीय व क्षेत्रीय राजनीतिक निर्मितियां पूर्ववत कार्यशील रहीं । समाज संगठित होकर जाति आधारित होता गया, जातियों में समन्वय व सम्पर्क लगातार आकार पाता गया, कृषि ओर उसके विस्तार से कृषि आधारित उद्योग पनपते ओर धन-सृजन व निर्माण इस प्रकार सतत चलता रहा । राज्य-निर्माण में यह सामाजिक-सांस्कृतिक कसावट सोने में सुहागा हो चली । सामाजिक-राजनीतिक संरचनाओं में बहिर्वर्ती (एक्स्टीरिओराइज्ड) संस्थाओं की अनुपस्थिति ने स्थानिक आधारों पर विविध सामाजिक समूहों को खुल-खेलने का मौका दिया और भारतीय समाज स्थिर और टिकाऊ आधार पाता रहा । मध्यकालीन राज्य इन आधारों पर ही विकसित हुआ । हालांकि उसने राजस्व, भू-लगान आदि की प्रणालियों को अधिक धारदार बनाते हुए अपने संसाधन-आधार को और अधिक मजबूत और पुख्ता बनाने पर जोर दिया । मनसबदारी और जमींदारी की व्यवस्थाएं इस दौरान कार्यशील संस्थाएं बन कर प्रकट हुई । व्यवहार्यत: इस्लामी राज्य ने गैर-इस्लामी समुदायों को उनके सामाजिक व सांस्कृतिक मामलों में पर्याप्त स्वायत्तता प्रदान की। फलत: राज-काज में प्रथागत कानून सुसंगठित हुआ ।

औपनिवेशिक राज्य की प्रकृति इस सुस्थिर सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर पहला निर्णायक आघात थी । उसके आने से राज-काज में बहिर्वर्ती सत्ता का सूत्रपात हुआ और पारम्परिक सामाजिक समूहों की पहल व सत्ता में गिरावट आई । संसाधनों का निर्माण और उनकी अधिप्राप्ति नौकरशाही युक्त राज्य का मूलाधार बन गई, ब्रिटिश साम्राज्य की नौकरशाही का 'इस्पाती ढांचा' तैयार हुआ जिसमें स्थानीय और क्षेत्रीय स्तरों पर अपने अनुसमर्थक वर्ग को भर्ती किया गया । ये वर्ग उस ढांचे में कील की तरह ठुक कर फिट बैठ गए । औपनिवेशिक राज्य पैसा कमाने में अनुदार विचारधारा तथा उपयोगिताओं के विस्तार में रोमांचित विचारधारा का एक साथ प्रवर्तन करने को प्रवृत्त हुआ । विचारधाराओं के इस दोहरे आभास ने एक ओर साम्राज्यवाद को मजबूत किया तो दूसरी ओर नई भारतीय राष्ट्रीय चेतना को भी पनपाया । इन दोनों स्तरों से प्रकट रस्सा-कस्सी भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के विविध सोपान गढ़ती गई । प्रभुतासम्पन्न नौकरशाही, सेना व प्रबन्धकों की परस्पर संसक्ति से प्रभावशाली राज्य रचना सामने आयी और उसके भारत-विरोधी स्वरों से वैकल्पिक रचना की सम्भावनाएं फूटी जो 'हिन्दू-स्वराज' जैसी संकल्पनाओं में प्रकट हुई । यह बात दीगर है कि आजादी पाने के समय तक भारतीय राष्ट्रवादी औपनिवेशिक राज्य-श्रेणियों से एक साथ नफरत व प्यार दोनों करते दिखाई देने लगे । आजादी से पूर्व उन्होंने प्राय: यह तय कर लिया कि वे अंग्रेजों के काल में ढली राज्य व्यवस्था को सांगोपांग ग्रहण कर लेंगे और उसके बूते बहुजातीय-बहुभाषीय भारतीयता को तराशने और संवारने के नए सिलसिले शुरू करेंगे ।

4.4.3 समसामयिक स्थितियां

आज भारत में बहुजातीयता (मल्टी एथ्यिसिटी) एक सर्व स्वीकृत सामाजिक यथार्थ है । भारतीय समाज में विविध जातियों की सतत वृद्धि हो रही है । इसका संकेत हमें निम्न तालिका से भली मिलता है :

तालिका-1: भारत में विविध मानवजाति समूह

समूह	1961 संख्या%		1971 संख्या%		1981 संख्या%		1991 संख्या%	
	(दस लाख में)	सम्पूर्ण जनसंख्या का	(दस लाख में)	सम्पूर्ण जनसंख्या का	(दस लाख में)	सम्पूर्ण जनसंख्या का	(दस लाख में)	सम्पूर्ण जनसंख्या का
हिन्दू	366.5	83.5	453.4	82.7	549.7	82.6	672.6	82.41
मुस्लिम	46.9	10.7	61.4	11.2	75.6	11.4	95.2	11.67
ईसाई	10.7	2.4	14.3	2.6	16.2	2.4	18.9	2.32
सिख	7.8	1.8	10.4	1.9	13.1	2.0	16.3	1.99
बौद्ध	3.2	0.7	3.9	0.7	4.7	0.7	6.3	0.77
जैन	2.0	0.5	2.6	0.5	3.2	0.5	3.4	0.41
अन्य	1.6	0.4	2.2	0.4	2.8	0.4	3.5	0.43
योग	439.2	100.0	548.2	100.0	665.3	100.0	816	100.0

(स्रोत : इंडिया 1996-ए रेफरेन्स एनुअल, भारत सरकार का प्रकाशन, पृ. 19)

विविध मानवजातीय समूहों में प्रयुक्त भाषाओं और उनकी प्रतिशतता का सांख्यिकीय संदर्भ तालिका 2 से स्पष्ट होता है :

तालिका-2 : 1971-81 के दौरान प्रमुख भारतीय भाषाओं के संदर्भ में प्रासंगिक जनसंख्या व प्रयोग प्रतिशतता का अनुपात

क्र. सं.	भाषाएं	संख्या (दस लाख में)		प्रतिशतता	
		1971	1981	1971	1981
1.	हिन्दी	208.5	264.5	38.0	38.7
2.	बंगाली	44.8	51.3	8.2	7.5
3.	तेलगु	44.8	50.6	8.2	7.4
4.	मराठी	41.8	49.5	7.6	7.2
5.	तमिल	37.7	अनुपलब्ध+	6.9	अनुपलब्ध+
6.	उर्दू	28.6	34.9	5.2	5.1
7	गुजराती	25.9	33.1	4.7	4.8
8.	मलयालम	21.9	25.7	4.0	3.8
9.	कन्नड	21.7	25.7	4.0	3.8
10.	उड़िया	19.9	23.0	3.6	3.4
11.	पंजाबी	14.1	19.6	2.6	2.9
12.	असमिया	9.0	अनुपलब्ध+	1.6	अनुपलब्ध+
13.	सिन्धी	1.7	2.0	0.3	0.3
14.	काश्मीर	2.5	3.2	0.5	0.5
15.	भारत की जनसंख्या	548.2	683.3		-

+ 1981 की जनगणना के आकड़े तमिलनाडु में बाढ़ की भेंट चढ़ गए जबकि आसाम के दंगाग्रस्त अशांत क्षेत्र होने के कारण वे संकलित ही नहीं किए जा सकें । अतएव तमिल व असमिया भाषाओं के आकड़े अनुपलब्ध रहे।

(स्त्रोत: **इंडिया 1996**, पृ. 19)

इतनी विविध जातियों, भाषाओं व संस्कृतियों के 'संगम' समाज के परिचालन के लिए यह आवश्यक था कि स्वतंत्र भारत में राज्य सत्ता समन्वित प्रयासों का प्रतिफल हो, वह बहु-आयामी राष्ट्रीय प्रयासों व पहलों की बुनियाद पर टिके । तथ्य: केन्द्रीय व राज्य सत्ताओं का उदय व विकास कुछ अलग ही कहानी कहते हैं । इकाई की सीमा व विषय की निश्चितता को ध्यान में रखते हुए इस खण्ड में केवल सूत्र-रूप में बहुलवादी उतारचढ़ावों की चर्चा की जा रही है । इनका सार यह है कि राजनीतिक-सरकारी प्रबन्ध प्राय: बड़ी चुनौतियों के सामने बड़प्पन दिखाने की क्षमता अर्जित करने में सक्षम नहीं हो सका है । कई अवसरों पर राज्यों को साधन आवंटन पक्षपातपूर्ण हुआ, कई बार केन्द्रीय राजनीतिक हस्तक्षेप अन्याय संगत प्रकट हुआ । राजनीतिक प्रबन्ध कौशल से अवसर क्षेत्रीय भाषायी

व अल्पसंख्य अस्मिता को संकल्पत: उभारा गया जो कि कालांतर में स्वयं केन्द्रीय सत्ता के लिए घातक सिद्ध हुआ तथा लोकतांत्रिक प्रसार के क्रम में लोकप्रियता की उन्मादी छवि ने एक प्रकार की अनुत्पादक उन्मुक्तता को परिश्रय दिया जिसके रहते स्वयं लोकतांत्रिक व्यवस्था को हानि पहुंची । अब किसी अखिल राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता के अभाव में बहुलवादी समाज फिर नए समीकरण ईजाद करता दिखाई देता है । राजनीति की प्रधानता से युक्त ये समीकरण काल-क्रम में कितने टिकाऊ साबित होंगे, यह कहना तो अभी मुश्किल है परन्तु इतना तो तय है कि भारतीय बहुलता छोटीछोटी राजनीतिक सत्ताओं के कुल योग से अकेले संसाधित नहीं हो सकती । उसे अपेक्षा एक ऐसे 'राष्ट्रीय' आवरण की है जो विविधताओं को आत्मसात करते हुए उन्हें उनकी संकीर्णताओं से ऊपर उठने को प्रेरित करें, उनकी दृष्टि व्यापक बनाए और उन्हें क्षेत्रेतर (ट्रान्स- रिजनल) व्यक्तित्व के विकास में सक्षम बनाए । इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ऐसी राष्ट्रीय सत्ता स्वयं क्षुद्र स्वार्थों को लांघे और विराट को अपने स्वरूप में समाहित करे । क्या कोई ऐसा प्रबन्ध सम्भव है? इस प्रश्न का समाधान-सूत्र अगले खण्ड में समाहित है ।

यहां यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि अमेरिका की भांति भारतीय बहुजातीयता भी किसी एक ऐसे प्रकार में कैद नहीं की जा सकती, जिनका उल्लेख इस इकाई के तीसरे खण्ड में किया गया था । भारतीय बहुजातीयता नैसर्गिक रूप से मॉडेल'अ' की वैशेषिक थी जिसमें समाज को अनेक सहयोगी मानवजाति समूहों से अभिनिर्मित माना गया था । अपने राजनीतिक प्रसंगों व व्यावहारिक क्रमों में भारतीय बहुजातीय यथार्थ 'ब' 'स' और 'द' मॉडलों को भी आज चरितार्थ करता है । 'ब' के द्वारा बहुसंख्यक हिन्दूसमाज के इर्द- गिर्द अल्पसंख्यक कभी सद्भावी तो कभी दुराग्रही अस्तित्व संजोते उपस्थित होते हैं । उनके इन भावों का 'रिमोट कंट्रोल' कभी राजनीतिक अभिकर्ताओं के हाथ में दिखाई देता है तो कभी बहुसंख्यक संवेगों के पास ।'स' मॉडेल के अन्तर्गत प्रभावी यद्यपि अस्थायी रूप से राष्ट्रतर विदेशी अभिमुखीकरण कार्यशील होते दिखाई देते हैं (जैसे- तमिलनाडु, असम, कश्मीर व पंजाब में फैला बिखराव /आतंकवाद) । 'द' मॉडेल की वास्तविकता भारत में अनेक वर्गों की परिधीय (पेरिफिरल) स्थितियों व दलित वर्गों के उदय द्वारा चरितार्थ होती हैं । व्यवहार क्रम से उत्पन्न ये तीनों मॉडेल किसी न किसी प्रकार के असंतुलनों से अपना स्वरूप व आकार ग्रहण करते हैं जिनका निराकरण स्वस्थ भविष्य के लिए अपरिहार्य है ।

4.5 राष्ट्र- निर्माण में मानवजातीय व भाषायी प्रतिरूपों की भूमिका

राष्ट्र निर्माण एक समन्वयकारी मनोवैज्ञानिक भाव है जो सभी मानवजातीय व भाषायी समूहों को एक माला में पिरो कर उन्हें उनका 'सर्वश्रेष्ठ' प्रतिपादित करने को प्रेरित करता है । **ताकि, 'एक में सब और सब में एक'** (ऑल इन वन एण्ड वन इन ऑल) तत्काल चरितार्थ हो सकें ।

भारत में भाषायी और मानवजातीय समूहों में जहां एक ओर सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक-प्राबन्धिक स्तरों पर उनके बीच प्रबल विभाजक रेखाएं भी खिंची हुई हैं । भारत की प्रभावी राजनीतिक शैली ने इन रेखाओं को और गाढ़ा किया है । ऐसी स्थिति में राष्ट्र- निर्माण का लक्ष्य प्राय: विचलित प्रकट होता है । समूहगत भाव आज राष्ट्रीय कल्याण को पीछे करते दिखाई देते हैं और राजनीतिक कौशल इन्हीं भावों के नित नए समीकरण गढ़ने और उन्हें चलाने को तत्पर दिखाई देता है । भारत का अनुभव यह बताता है कि राजनीतिक शक्ति के जो उत्प्रेरक (जैसे- प्रांतीय

शक्तिधारकों का विघटन भू-स्वामित्व प्राप्त जातियों से संधियां, वंचितों को प्रलोभन आदि) केन्द्रीय शक्ति का उन्नयन करते हैं, वे ही उसके पतन का भी कारण सिद्ध होते हैं । शक्ति का उन्नयन-पतन चक्र इसी गोलाकार घुमाव का परिचय देता है । शक्ति का साध्य शक्ति की चंचलता के आगे लाचार दिखाई देता है । फिर भी वह सतत संसाधन और विफलन के नित नए अभ्यास क्रम प्रस्तुत करता जाता है । राजनीति शक्ति की आकांक्षी है और उसकी प्राथमिकता वस्तुतः शक्ति की ही प्राथमिकता है । शक्ति ओर सामर्थ्य **साधनात्मक** होती है, उससे यदि कुछ वांछित न उपलब्ध किया जाए तो वह चंचलतावश अपने धारक का ही घात कर देती है ।

वास्तव में एक नई शुरुआत की जरूरत है । भारत को एक बार फिर से अपने राष्ट्रीय आधारों की पड़ताल और उनका वरण करना होगा । **राष्ट्र- राज्य** का विचार स्वयं एक **वर्ण-केन्द्रिक** (एथ्नो-सेंट्रिक) वास्तविकता का परिचायक है । उसको वैसे ही स्वीकार करके हम शुरू से ही उसकी वैशेषिक व्यवस्थाओं को परिचालित करते आए हैं । जन-लोकतंत्र की बात के तले वास्तव में पश्चिम की भांति भारत में भी वर्गीय या समूहगत अभिजन संगठित होते आए हैं । देश के प्रति जन-नियोजन इन्हीं 'ठेकेदारों' को सौंपा जाता रहा है जो कि जनता में अपनी पैंठ को राजनीतिक टकसाल में भुनाने और मुनाफा कमाने की लालसा पैनी करते रहे हैं । पश्चिम का यह **घटावकारी** (रिडक्शनिस्ट) मॉडेल भारत के लिए कारगर नहीं हो सकता । भारत को **जुड़ावकारी** (एग्लोमरेटिव) अभियान की दरकार है । यह राजनीति के बंटवारा-प्रधान भावों से नहीं आ सकता । इसके लिए भारतीय संस्कृति व सभ्यता के बिखरे भावों को फिर से संयोजित करना होगा । यह जरूरी है कि भारत में **सभ्यता पर आधारित राज्य** (सिविलिजेशन-स्टेट) संगठित हो और राष्ट्र राज्य का स्थानापन्न बने । इसका निहितार्थ यह नहीं है कि यहां "संविधान द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था की औपचारिक अथवा अनौपचारिक संरचनाओं में कोई फेर-बदल हो (वस्तुत सभ्यता-आधारित राज्य) एक ऐसी सर्वव्यापी अस्मिता प्रदान कर सकता है जिसके तले एक समन्वित राजनीतिक व्यवस्था (क्रियाशील होते हुए) विविध सामाजिक अस्मिताओं के सम्बोधन समुच्चयन के लिए आवश्यक उदार परिवेश उपलब्ध करा सके.. प्रस्तावित संकल्प उदारवादी राज्य के उस सामाजिक एजेन्डा अथवा नैतिक चिंता के विषयों में भी किसी घटाव की बात नहीं करती जिन्हें उसने लोककल्याणकारी राजनीति के लिए अंगीकार किया है (रवीन्द्र कुमार, "स्टेट फॉरमेशन इन इंडिया रिट्रॉस्पेक्ट एण्ड प्रॉस्पेक्ट", मार्टिन डूर्नबॉस व सुदीप्त कविराज सं., डायनेमिक्स ऑफ स्टेट फॉर्मेशन - इंडिया एण्ड यूरोप कम्पेयर्ड में, नई दिल्ली, 1997, पृ. 407) । यदि सभ्यता-आधारित राज्य क्रियाशील हुआ तो मानवजातीयता तथा भाषायी अस्मिता की क्यारियों में नित नए रंगों और खुशबुओं के फूल खिलेंगे और भारत उनकी रंगीली छटा और सुरभि की सम्पन्नता से सराबोर जीवन की एक महकती बगिया बन जाएगा । केवल यही हमारा अभीष्ट हो सकता है ।

4.6 इकाई सारांश

इस इकाई में आपने भारत के मानवजातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों का अध्ययन किया । उनके सैद्धान्तिक संदर्भ में आपको यह ज्ञात हुआ कि मानवजातीय व भाषायी समूह अपनी उत्पत्ति व विकास की स्वतंत्र प्रक्रियाओं के प्रति पर्याप्त रूप से चेतनशील होते हैं । यह चेतना ही व्यापक समाज से उनकी सहभागिता निर्धारित करती है । 'कठोर' अथवा 'शिथिल' ऐसे समूह सामाजिक सम्बन्धों के क्रम में

अपने ऐसे प्रकार गढ़ते हैं जो अनात्मीयता के विचलन तक का परिदृश्य सुलभ कराते हैं । यह सम्भव है कि किसी समाज में इन प्रकारों के एकाधिक प्रकार एक साथ क्रियाशील हों ।

भारत में मानव जातीयता व भाषायी अस्मिता ने भारत की संस्कृति को उसकी समन्वय- क्षमता व समृद्धि प्रदान की है । विविध जातियां बारम्बार भारत आई, बसीं और उन्होंने सांस्कृतिक धारा को नित नया संवेग और प्रवाह प्रदान किया । इसलिए भारत में सांस्कृतिक-सत्ता सदैव प्रधान रही है । समस्त जीवन प्रसंग उससे ही परिचालित रहे हैं ।

औपनिवेशिक राज्य की वास्तविकता ने इस जीवन-क्रम को तोड़ा लेकिन आजादी पाते-पाते हम इस राज्य-उपकरण से मोहाविष्ट हो गए । उसको अंगीकार करने के साथ ही भारत में मानव जातीयता व भाषायी विविधता की बहुलता राजनीतिक प्रतियोगिता के विभाजक क्रमों के तले आ गई । फलत: राष्ट्र निर्माण का भाव और प्रक्रिया आधी-अधूरी रह गई ।

सभ्यता-आधारित राज्य का बुनियादी भारतीय स्वरूप उदारवादी राज्य के तले बहुलता का भली भांति पोषण व संवर्द्धन कर सकता है । उसी के माध्यम से जीवन के बिखरे-फैले रंग फिर से संयोजित हो सकते हैं ।

4.7 अभ्यास-प्रश्न

(अ) निम्न का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए:

(1) मानव जातीयता क्या है? उसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए ।

(2) राष्ट्र, नस्ल तथा अल्पसंख्यकों से मानव जातीय समूहों के सम्बन्धों की चर्चा कीजिए ।

(3) इस्लाम ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन पर क्या और कैसा प्रभाव अंकित किया? स्पष्ट कीजिए।

(ब) निम्न का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए:

(1) "मानव जातीय तथा भाषायी प्रतिरूपों का भारतीय ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य" विषय पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए ।

(2) भारत में विविध मानव जातीय समूहों का राज्य-निर्माण में क्या योगदान रहा है? विवेचना कीजिए ।

(3) "राष्ट्र-निर्माण का वैकल्पिक भारतीय स्वरूप" विषय पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए। (500 शब्द सीमा में)।

4.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. जे. मिल्टन यिन्गर : एथ्निसिटी (1997)

2. पॉल ब्रास : एथ्निसिटी एण्ड नेशनलिज्म (1991)

3. मार्टिन डूर्नबॉस व सुदीप्त कविराज (सं.) : डायनेमिक्स ऑफ स्टेट फॉर्मेशन (1997)

4. के. एस. सिंह तथा एस. मनोहरन : लेंग्वेजेज़ एण्ड स्क्रिप्ट्स (1997)

5. भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय संस्कृति के स्रोत (1973)

6. " " " " " " " : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण (1973)

इकाई 5 भारत की लोकप्रिय मान्यताएँ एवं संस्कृति

इकाई संरचना

5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3 लोकप्रिय मान्यताएँ तथा संस्कृति की रूपरेखा
5.4 भारतीय ऐतिहासिक लोक मान्यताएँ तथा लोक संस्कृति
5.5 भारतीय जनजातीय मान्यताएँ तथा संस्कृति
5.6 भारतीय ग्रामीण मान्यताएँ तथा संस्कृति
5.7 भारत की शहरीय मान्यताएँ तथा परिवर्तित संस्कृति
5.8 हमारे मांगलिक प्रतीक
5.9 सारांश
5.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.11 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

5.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम आपको भारत की जितनी लोकप्रिय मान्यताएँ हैं तथा भारत की जो संस्कृति है उसके बारे में जानकारी देंगे । यहां आपको प्राचीन भारत की जो लोकप्रिय मान्यताएँ थी तथा प्राचीन भारत की जो संस्कृति थी उसके बारे में बताया जाएगा । भारत एक ऐसा देश है जहां कई प्रकार की संस्कृतियाँ तथा विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ देखने को है । यहां हम आपको जनजातीय, ग्रामीण तथा आधुनिक भारत की संस्कृतियों के बारे में विशेष जानकारी देंगे । हमें यह भी देखने को मिलता है। कि भारत की संस्कृति में काफी परिवर्तन हो रहा है तथा यहाँ की पुरातन मान्यताएँ भी बदल

5.2 प्रस्तावना

संस्कृति मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है जिसकी सहायता से वह प्रगति की ओर आगे बढ़ता जाता है । मानव संस्कृति का धारक, निर्माता और संवर्द्धन है । किंग्सले डेविस कहते है। कि यदि कोई एक ही कारक मनुष्य के अनूठेपन की व्याख्या कर सकता है तो वह कारक यह है कि मनुष्य एवं केवल मनुष्य में ही संस्कृति पायी जाती है । मनुष्य ने अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों में निरन्तर विकास किया है और प्रकृति पर अधिक से अधिक नियंत्रण कर उसकी गुत्थियों को समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार की सांस्कृतिक विशेषता के कारण विभिन्न समाजों में सांस्कृतिक विभेदता, एवं सांस्कृतिक सापेक्षता पायी जाती है । इन भेदों को जीवन शैली, भाषा, सामाजिक प्रतिमान तथा मान्यताओं के आधार पर व्यक्त किया जाता है । अपनी विभिन्न प्रवृतियों को संतुष्ट करने के प्रयास में उसने कला, साहित्य, संगीत जैसी उपलब्धियों को प्राप्त किया है । संस्कृति की प्रकृति संचयी है

जिससे उपलब्धियों-भौतिक व अभौतिक, दोनों ही पीढ़ी दर पीढ़ी अधिक परिष्कृत व परिमार्जित होती हैं ।

5.3 लोकप्रिय मान्यताएँ तथा संस्कृति की रूपरेखा

समाज में ज्यादातर पाई जाने वाली आध्यात्मिक मान्यताएँ हमेशा पहले से ही स्वीकारी हुई बातें होती हैं । समाज की एक प्रतिष्ठित मान्यता के नीचे एक ऐसी मान्यता छुपी होती है जिसके बारे में किसी को मालूम ही नहीं होता । हमें मान्यताओं को, अवधारणाओं को, तथा सिद्धान्तों को एक विशिष्ट समय या समाज के संदर्भ में समझना चाहिए । क्योंकि एक सामाजिक परिस्थिति में मूल्य तथा मान्यताएँ किसी समाज में से अथवा समाज के द्वारा परिभाषित की जाती हैं ।

मान्यता हमें अप्रतिबन्ध, अनुआरक्षित तथा अस्थिति सापेक्ष स्वीकृति के बारे में बताती है। यह मान्यता की अवधारणा का भाग है जहां मनुष्य उन चीजों पर भरोसा करता है जिन पर वह विश्वास करता है । मान्यता को परिभाषित करते हुए जोसेफ पाईपर लिखते हैं कि "विश्वास का अर्थ हमेशा किसी पर विश्वास करना या किसी चीज के बारे में विश्वास करना होता है । विश्वास करने वाला हमेशा किसी वस्तु को, दूसरों के सत्य कथन के आधार पर, सही और सच्चा मानता है ।

मान्यताएँ संस्कृति का ही भाग होती हैं । संस्कृति मानव निर्मित होती हैं । संस्कृति वह समग्र जटिलता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अनय क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है । श्यामाचरण दुबे कहते हैं कि हम संस्कृति को "मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की समग्रता कह सकते हैं ।

लोक संस्कृति रहन- सहन की एक प्रणाली है, एक सामाजिक विरासत है जिसे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त किया जा सकता है । प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक भिन्नताओं के परिणामस्वरूप संस्कृति के स्वरूप में विशिष्टता अथवा भिन्नता देखने को मिलती है । भारत की जनजातियों की संस्कृति ग्रामीण या शहरीय इलाकों से बहुत भिन्न है ।

5.4 भारतीय ऐतिहासिक लोक मान्यताएँ तथा लोक संस्कृति

प्राचीन युग का भारत या तो मोक्षमार्गी था, या यक्ष, भूत, पिशाच आदि उपदेवताओं का पूजक, या तो सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति में पहुंचकर लोग तत्व-चिन्तन करते थे या अज्ञान के स्तर पर गिरकर प्रेत पूजा करते थे। बौद्ध या जैन आचार्य शून्य की ओर देखते थे और जनसाधारण यक्षों और प्रेतों के डर से थर-थर कांपता था । बौद्ध भी यक्ष, प्रेत, पिशाच, जल-प्रेत, वृक्ष देवता के अस्तित्व को मानते थे । "मार" बुद्ध युग का "शैतान" था, जो बुद्धदेव को सिद्धि लाभ के समय काफी सता चुका था । चमत्कारों का भी महत्व था, जैसे आकाश में उड़ना, अदृश्य हो जाना, सदेह पितृलोक चले जाना और लौट आना, किसी को यमराज और पिशाच दिखला कर डरा देना आदि । यक्ष और प्रेत प्राय: मनुष्य के बीच में आ जाते थे और उन्हें पीड़ित करते थे । शमशान में जाकर सिद्धि-लाभ करना या भूत-सिद्ध करना गर्हित कर्मों को वर्णन भी जातक-कथाओं में है ।

जातक युग में दूसरे प्रेतों से यक्ष अधिक बलवान थे और उनकी पूजा अर्चना खूब होती थी। दैत्य भी बड़े ही तीखे होते थे, जो जंगली रास्ते से जाने वालों को मारकर खा डालते थे । एक- एक वन एक- एक नाम से बदनाम था जैसे- चोरों का वन, साँपों का वन, भूतों का वन ।

यक्ष पूजा एक अजीब-सी चीज है । वेदों में यक्ष नहीं है । रामायण में भी यक्षों का कोई स्थान नहीं है, किन्तु जातक युग में इन्होंने तो अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था । उस समय यक्ष नगरी तक का उल्लेख मिलता था । किन्नरों की चर्चा भी जातक कथाओं में आई है । किन्नर प्रेमी स्वभाव के होते थे । किसी का अहित करना या यक्षों की तरह नरमांस-भक्षण करना किन्नरों को रुचिकर न था।

प्राचीन भारतीय धर्म में "नाग" की पूजा बहु त महत्वपूर्ण थी । वैदिक युग के द्रविड़ लोगों में "नाग" की पूजा सबसे ऊँची समझी जाती थी । इसके साथ लोगों में यह मान्यता भी पनपने लगी कि जिन चीजों से हमें लाभ मिलता है उनकी भी पूजा की जानी चाहिए । दक्षिणी भारत में सालाना "अयुदा-पूज़ा" का उत्सव मनाया जाता है, जिस दिन प्रत्येक कारीगर अपने औजारों की पूजा करता है । विश्वविद्यालय के विद्यार्थी अपनी किताबों, कॉपियों तथा कलम की पूजा करता है, गाड़ी चलाने वाले अपनी या अपने मालिक की गाड़ी की पूजा करते हैं । और उद्योगों में काम करने वाले मजदूर तथा कर्मचारी अपनी मशीनों की पूजा भेड़ की बलि चढ़ाकर करते हैं । गाड़ी वाला दुर्घटना से बचने के लिए अपनी गाड़ी की पूजा करता है ।

समय के साथ-साथ द्रविड़ों की यह मान्यता धीरे-धीरे मूर्ति पूजा की ओर बढ़ती आने लगी । गांव में लोगों ने दैवी की पूजा करना शुरू कर दिया, जो उन्हें भयंकर बीमारियों से बचा सकें । तेलगू गांव में गंगाअम्मा देवी की पूजा होने लगी। इनकी पूजा केवल जानवरों की बलि से ही की जाती थी और सबसे अच्छी बलि तो भैंसे की मानी जाती थी । गांव का प्राकृतिक विपदा विशेषकर सूखे से बचाने के लिए ऐसा किया जाता था ।

5.5 भारतीय जनजातीय मान्यताएँ तथा संस्कृति

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जनजातियों का बहु त महत्वपूर्ण स्थान है । मानव शास्त्रियों ने इन्हें अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है । रिसले, लेके तथा ग्रिगसन ने उन्हें आदिवासी (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है । हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) कहा है । सर बेन्स ने इन्हें पर्वतीय जनजातियाँ (हिल ट्राइब्स) की संज्ञा दी है । सेल्जनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववाद (एनिमिस्ट्रस) कहते हैं । बेन्स ने उन्हें वन्य जाति (जंगल पीपुल, फोरेस्ट ट्राइब्स अथवा फौक) नाम से सम्बोधित किया है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री डी. घुरये ने उन्हें तथाकथित आदिवासी (सौ काल्ड एवारिजिहस) अथवा "पिछड़े हु ए हिन्दू" नाम दिया है तथा उन्होंने इनके लिये अनुसूचित जनजातियाँ (शिडयूल्ड ट्राइब्स) नाम प्रस्तावित किया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है।

डॉ. मजुमदार जनजातियों क बारे में बताते हैं कि ये पारिवारिक वर्गो का एक ऐसा समूह है, जिसका एक सामान्य नाम है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू- भाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं तथा जिन्होंने आदान-प्रदान सम्बन्धी एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है । साधारणतया एक जनजाति अन्तर्विवाही समूह है । अत: हम यह कह सकते हैं कि एक

आदिवासी समुदाय की अपनी विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था, पुराकथा व प्रजाति होती है । आमतौर पर प्रत्येक जनजाति एक निश्चित भू-भाग पर निवास करती है । इनको देश के प्राचीनतम लोगों में से माना जाता है ।

जनजातियों की संस्कृति तथा मान्यताओं के बोर में अनेक तथ्य उपलब्ध हैं । भारत की सभी जनजातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से लगभग समान होती है । कहीं-कहीं, पर ही कुछ असमानताएँ नजर आती हैं । जब, हम उनकी पारिवारिक रूप-रेखा को देखते हैं, तब हमें उन लोगों में मातृ-सत्तात्मक, व पितृ-सत्तात्मक, बहुपति, बहुपत्नी, संयुक्त तथा नाभिक परिवार देखने को मिलते हैं । मातृ-सत्तात्मक परिवार भारत के ज्यादातर ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर निवास करने वाली खासी और गारो जनजाति में, केरल के नायर जनजाति में तथा दक्षिण भारत की कादर, इरूला तथा पुलायन जनजातियों में पाया जाता है । ऐसे परिवारों में मातृ स्थानिक निवास होता है तथा सर्वोच्च स्थान स्त्री को प्राप्त होता है । परिवार की आर्थिक व्यवस्था में, सम्पत्ति तथा अन्य सामाजिक, विषयों पर, वास्तविक अधिकार स्त्रियों का होता है । परिवार के बच्चे, अपनी माता के कुल या वंश के नाम से जाने जाते हैं । विवाह के बाद पति अपनी पत्नी के घर पर जाकर रहता है । बच्चों की देख-रेख व लालन-पालन में पिता से अधिक अधिकार माता का होता है । ऐसे परिवारों में स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती पितृसत्तात्मक परिवार ज्यादातर उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश में रहने वाली खड़िया जनजाति में, भील जनजाति में तथा अगामी नागा जनजाति में पाये जाते हैं । ऐसे परिवारों में पिता का स्थान सबसे प्रमुख होता है । यहीं से वंश चलता है । विवाह के बाद स्त्रियों पति के घर आकर रहने लगती है । सम्पत्ति पर पति का पूरा अधिकार होता है ।

कुछ जनजातियों में बहुपत्नी तथा बहुपति विवाह भी देखने को मिलता है । नागा, गोंड, बैगा तथा नेफा की डफूला, जनजाति में बहुपत्नी विवाह देखने को मिलता है । ऐसे परिवारों में एक पुरुष उसकी स्त्रियाँ तथा अविवाहित बच्चे एक ही स्थान पर निवास करते हैं । कभी-कभी स्त्रियाँ अलग- अलग भी रहती हैं और ऐसी, स्थिति में पति सबसे बड़ी स्त्री के साथ रहता है, लेकिन वह दूसरी पत्नियों के साथ भी कभी-कभी रहता है । यहां पति की स्थिति ऊंची होती है परन्तु पत्नी को उसके आधीन होकर रहना पड़ता है ।

भारत की "तियान", "टोडा", "कोटा", जौनसर भाबर की "खस" जनजाति तथा लदाकी बौटा" जनजाति में बहुपति विवाह पाया जाता है । टोड़ा जनजाति में एक पत्नी में कई भाइयों की साझेदारी होती है । सन्तान का पिता वह व्यक्ति समझा जाता है जो जनजाति द्वारा स्वीकृत संस्कार को पूरा करता है । कुछ जनजातियों में वधु-मूल्य की प्रथा पाई जाती है जो बहुत ज्यादा होती है इसलिए कई पुरुष मिलकर एक ही स्त्री के साथ विवाह कर लेते हैं । ऐसे विवाह दक्षिणी भारत में इरावन के पिछड़े हुए सदस्यों तथा मलावार की शिल्पी जनजातियों में पाया जाता है ।

जनजातियों की संस्कृति में धर्म तथा जादू का भी महत्व पाया जाता है । इन लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर धर्म का प्रभाव काफी ज्यादा होता है । (मिरजापुर) सरगूजा जंगलों की कोखा जनजाति यह विश्वास करती है कि मनुष्य अपने आप को जानवर बना सकता है, उनके पूर्वज आज पत्थर, नदी तथा पेड़ बन गये हैं, तथा पौधे और जानवर मनुष्यों के साथ बात कर सकते हैं । संथाल जनजाति में धर्म का काफी प्रभाव रहा है, विभिन्न धार्मिक प्रकार्यों के लिए अलग- अलग व्यक्ति होते

है, जिन्हें अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया जाता है जैसे- ओझा, जंगुर, रेरेनिक व जनगुरु । प्राकृतिक कारणों से बीमार व्यक्ति का उपचार करने वाला व्यक्ति रेरेनिक कहलाता है । बीमार व्यक्ति जब ठीक नहीं हो पाता तो जनगुरु अथवा ओझा को बुलाया जाता है, जो जड़ी-बूटी के साथ जादुई शक्ति से बीमार व्यक्ति को ठीक करने का प्रयत्न करता है । मृत पूर्वजों की आत्माओं पर भी यह लोग विश्वास करते हैं जिनकी ये पूजा करते हैं ।

भील जनजाति मृतात्माओं पर विश्वास करते हैं । वे यह मानते हैं कि मरने के बाद मृत व्यक्ति की आत्मा निवास स्थान के आस-पास ही मंडराती रहती है । जिनकी प्राकृतिक मृत्यु होती है तथा जिन्होंने अच्छा व सामान्य जीवन बिताया है, उनकी आत्मा संतुष्ट रहती है और जो दुःखी जीवन बीताकर असामयिक मौत प्राप्त करते हैं वे हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं । ये लोग देवी- देवताओं जैसे महादेव, राम, हनुमान व गणेश की पूजा करते हैं ।

जनजातियों के देवी देवताओं में इष्टकर एवं हानिकर, दोनों ही प्रकार के देवी- देवता पाये जाते हैं । "पछावन" इष्टकर हैं, किन्तु "खड़गा" भूत" (बुरी आत्मा) जो कि हानिकारक है, को प्रसन्न रखने के लिए पूजा जाता है । ग्राम देवताओं की भी यह पूजा करते हैं, गांव से कुछ दूरी पर देवी "भूमसेन" की पीपल अथवा नीम के वृक्ष के नीचे स्थापना होती है, यह बाघभूत पर भी विश्वास करते हैं । यदि बाघ (चीता) किसी व्यक्ति को मार कर खा जाता है तो उसकी आत्मा की भी उपासना की जाती है । थारू जनजाति की स्त्रियाँ जादू-विद्या में भी निपुण होती हैं ।

डब्ला जनजाति के लोग बुरी आत्माओं तथा भूत- प्रेत में बहुत विश्वास करते हैं साथ ही कई देवी-देवताओं की पूजा भी करते हैं । किसी भी बीमारी का कारण देवी-देवताओं के नाराज होने से लगाया जाता है ।

अण्डमान निकोबार में रहने वाली जनजातियाँ कई देवी-देवताओं तथा आत्माओं पर विश्वास करती हैं, जो वनों तालाबों तथा समुद्र में निवास करती हैं । दक्षिणी अण्डमान में कुछ आसमान में निवास, करने वाली आत्माओं की पूजा की जाती है जिन्हें यह मोरूबा या मोरोबिन कहते हैं । यहां जब किसी पुरुष या स्त्री की मृत्यु हो जाती है तो यह विश्वास किया जाता है कि यह आत्मा बन जाती है । जंगलों तथा समुद्र में निवास करने वाली आत्माओं को यह अदृश्य मानते हैं । ये लोग रात को जोर से आवाज या सीटी की आवाज नहीं करते जिसका अर्थ वे आत्मा को जंगल से बुलाना समझते हैं । दूसरी ओर यह लोग इस पर विश्वास करते हैं कि आत्माएँ संगीत की आवाज से दूर भागती हैं।

उत्तर प्रदेश के मेषपाल हिन्दू धर्मावलंबी है तथा सभी हिन्दू देवी- देवताओं की पूजा करते हैं । राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, हनुमान देव एवं काली, चंडी, लक्ष्मी देवियों की उपासना विशेष विधि विधान के साथ की जाती हैं । कुल देवी, कुल देवताओं, ग्राम देवताओं तथा "भूमियाँ" देवस्थलों की उपयुक्त अवसरों पर पूजा की जाती हैं । गांवों में अंधविश्वास अधिक होने से जादू-टोने में लोगों का अधिक विश्वास है । इलाज के लिए झाड़-फूंक करने वाले को भी बुलाया जाता है । जो लोग पशु भेड़- बकरी रखते हैं व पशुओं के अनिष्टकारी प्रेतों की शांति के लिए विभिन्न प्रकार के पूजन करते हैं । मृतकों को श्राद्ध दिये जाते हैं । ग्वालियर में एक विशेष जाख देवता की पूजा की जाती है । प्राय: रक्षा बन्धन के समय उसका पूजन होता है । इसकी पूजा झाड़ी तथा कुछ वृक्षों के पत्तों से की जाती है । यह वृक्ष देवता रक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है । जनजातियों में पेड़-पौधों की पूजा का विधान है क्योंकि

उन्हें रक्षक या भक्षक के रूप में माना जाता है । अत: उनके पीछे कुछ निषेधों का निर्माण हुआ है । बाघ देवता की पूजा भी कुछ इसी प्रकार के अजातीय अवशेषों का परिणाम लगती है । होली-दीवाली पर पशुपालक समाज अनिष्ट से बचने, के लिए लंगरी देवता की पूजा करता है । इस धार्मिक कृत्य के लिए आटे का दीपक बनाया जाता है । उसमें शुद्ध घी डाला जाता है । तथा किसी जंगल या तालाब के किनारे रख दिया जाता है । ऐसा विश्वास है कि इस विधान से उनके पशु स्वस्थ रहेंगे ।

कर्नाटक के कुरूबा जनजाति बड़े धर्म भीरू, सदाचारी और चीरत्रनिष्ठ होते हैं । ये लोग दशहरा अथवा महानवमी बड़े धूमधाम से मनाते हैं । इस अवसर पर शस्त्र पूजा होती है । तथा दुर्गाशक्ति की प्रतीक, काली देवी का विधिवत् पूजन किया जाता है । दशहरे के त्यौहार पर सारे भारत के मेषपाल समाज में शस्त्र पूजा किसी न किसी रूप में अवश्य होती है ।

इस समाज में तंत्र-संप्रदाय का भी पूरा प्रभाव है । कर्नाटक में कई कुरूबा जादुई शक्ति वाले समझे जाते हैं । देवोपासक कुरूबा पर जब तंत्रीय प्रभाव होता है तो वह अपना सिर हिलाने लगता है । वह थकता नहीं और ट्रांस की अवस्था में लोगों के प्रश्नों का उत्तर देता जाता है । उसके सिर पर नारियल फोड़ा जाता है किन्तु उसे जरा भी चोट महसूस नहीं होती ।

हिमाचल प्रदेश के गद्दी जनजाति के लोग जिन्होंने हिन्दू धर्म का अनुसरण किया है इसको अपने जनजातीय सांचे में ही ढालकर रखा है । ये शिवजी के उपासक हैं, लेकिन इनकी पूजा कुछ अपने ही ढंग की है । इनके शिवजी संसार के जनक हैं तथा व्यक्ति को सुख शान्ति प्रदान करते हैं । गद्दियों के देवता भी भेड़-बकरी खाने के शौकीन हैं । गद्दी लोग भी प्राकृतिक स्थानों में बसने वाले तथाकथित प्रेतात्माओं में विश्वास रखते हैं । इनके लिए बकरी की बलि चढ़ाई जाती है । कुछ अवतार काली बकरी पसन्द करते हैं, तो कुछ काले सिरवाले सफेद बकरी के बच्चे खाने के शौकीन हैं और सिद्धजी भेड़ के बच्चों को कच्चा चबाने में माहिर हैं । बंजर खेत में जब पहली बार हल चलाया जाता है, तो यह जरूरी है कि पुरोहित पूजा करे तथा एक बकरी काटी जाय । जब किसी मकान की नींव रखी जाती है तो पूजा के साथ-साथ एक भेड़ या बकरी की बलि दी जाती है । बालक के जन्म तथा विवाह के अवसरों पर पशु को काटकर खुशी मनाई जाती है । यात्रा आरम्भ करने से पूर्व देवता को एक बकरे की बलि दी जाती है ।

राजस्थान की गिरासीया जनजाति के बारे में कहा जाता है कि ये लोग ज्यादातर सिरोही, उदयपुर, पाली, डूंगरपुर तथा आबू क्षेत्रों में रहते हैं । वे अपने आप को शिवजी (भगवान शिव) के वंशज मानते हैं । वे अपने धर्म को कई प्रकार के देवी देवताओं, विश्वासों, तथा भूत-प्रेतों के द्वारा सम्बोधित करते हैं । यह लोग हनुमान जी की पूजा उतनी ही भक्ति से करते हैं जितनी कि वे काला तथा गौरा भैरूजी की करते हैं । गौरा भेरूजी की पूजा यह लोग फल, मिठाई तथा अनाज से करते हैं । काला भैरूजी की पूजा केवल खून, शराब तथा मांस के द्वारा करते हैं । गिरासियों में प्रेतों की गोबरू (दुष्ट) तथा भेल्लों (अच्छा) के रूपों में देखा जाता है । गोबरू प्रेतों का जादूगर क साथ निकट का सम्बन्ध होता है और जादूगर का दुष्ट आत्माओं से जादुई शक्ति प्राप्त होती है । भेल्लों प्रेत मनुष्य को हानियों से बचाता है तथा गोबरू प्रेतों के प्रभाव से भी बचाता है ।

मीणा जनजाति जो कि राजस्थान में पाई जाती है जादू-टोने पर विश्वास करती है । यह लोग भी दो प्रकार की जादुई क्रियाओं पर भरोसा करते हैं । जो जादुई क्रिया अच्छाई के लिये की जाती है उससे बीमारी दूर हो सकती है । नजर को मिटाया जा सकता है तथा बिच्छू के डंक को भी मंत्र द्वारा

उतारा जा सकता है । सांप के काटने के बाद जादू द्वारा इलाज किया जाता है । तेजाजी देवता के नाम का गंडा बांध दिया जाता है ताकि जहर ऊपर न चढ़े । देवता के स्थान पर गाय की पूँछ के बाल की रस्सी, होती है जिसके एक कोने को वहां बांधा जाता है और दूसरे को जादूगर अपने मुंह में लेकर जहर को खींचता है । इस तरह जहर खून के साथ निकलता चला जाता है और वह आदमी ठीक हो जाता है । गांव में जब किसी से दुश्मनी हो जाती है तो जादू के द्वारा उसे नुकसान पहुंचाया जाता है । इन लोगों में भोमियाजी की भी पूजा की जाती है । गांव के किसी विख्यात आदमी की मृत्यु के बाद उसकी मूर्ति बनाकर गांव के बाहर रख दी जाती है । लोग इनकी पूजा करते हैं ।

5.6 भारतीय ग्रामीण मान्यताएँ तथा संस्कृति

भारतीय ग्रामीण संस्कृति एक ऐसी अद्भुत संस्कृति है जहां कई विशिष्टताएं देखने को मिलती है । जहां परस्पर मिलकर एकजुट होकर कार्य करने या संकट झेलने की इच्छा दृष्टिगत होती है । डॉ.एम.एन. श्रीनिवास ने मैसूर के पास रामपुरा गांव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बहुत पहले जब इस गांव पर हैजा (कोलेरा) या महामारी (प्लेग) या बड़ी माता (स्मॉल पोक्स) का आक्रमण हुआ था तो पूरा गांव एक होकर कार्य करने लगा था और बाद में एक दूसरे क्षेत्र में जाकर कुछ समय के लिए बस गया था । सब एक होकर उन्हीं देवी देवताओं की पूजा करते थे जो इन्हें ऐसी बीमारियों से मुक्ति दिला सकें । इन बीमारियों को उन्होंने अपनी पूजा अराधना द्वारा ही भगाया है इसलिये गांव की सीमा के साथ कुछ धार्मिक महत्व जुड़े हुए हैं ।

गांव की प्रत्येक जाति का अपने-अपने औजारों तथा उपकरणों के प्रति या अपने व्यवसाय के सामानों के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण होता है । जब गौरी (पार्वती-शिवजी की पत्नी) का सालाना उत्सव मनाया जाता है तब प्रत्येक जाति अपने औजारों की पूजा करते हैं । किताबों को देवी सरस्वती के साथ जोड़ा जाता है । जिसे ज्ञान की देवी कहा जाता है तथा सब किताबों को धार्मिक आदर देते हैं । ब्राह्मण दशहरा के मौके पर ही किताबों की पूजा करते हैं । दशहरा के दिनों में स्कूलों में भी सरस्वती पूजा की जाती है । यह पूरा समुदाय जिसमें कई प्रकार की जातियाँ मिलती है।, धरती को धरती माता के नाम से पूजती हैं और अनाज तथा खाद को "लक्ष्मी" मानती है जो धन-दौलत की देवी है । घर की द्वीप अन्न-भण्डार तथा अन्न नापने की चीज को भी धार्मिक सम्मान दिया जाता है।

श्रीनिवास ने यह भी देखा कि इस गांव में ब्राह्मण तथा लिंगायत परम्परागत ब्राह्मण जातियाँ हैं जो वास्तव में पुजारी होते हैं परन्तु पूजा के कार्य के साथ-साथ ये लोग कृषि तथा महाजनी का काम भी करते हैं । लिंगायत पुजारी केवल शिव मन्दिरों के ही पुजारी होते हैं । ऐसे मंदिरों में जहां ब्राह्मण पुजारी का कार्य करता है, लिंगायत प्रवेश नहीं कर सकता और जहाँ लिंगायत पुजारी का कार्य करता है ब्राह्मण प्रवेश नहीं कर सकता । लिंगायत पुरोहित केवल लिंगायत के घर ही जन्म, विवाह तथा दूसरे संस्कारों को पूरा करने जाता है परन्तु ब्राह्मण किसी भी ऊँची जाति के लोगों के घर पूजा कर सकता है ।

कुर्ग प्रदेश जो कि कर्नाटक के दक्षिण में स्थित है के लोगों के बारे में एम.एन. श्रीनिवास ने अध्ययन किया है । इन लोगों की संस्कृति तथा धार्मिक रीति- रिवाज अलग प्रकार की पाई गई है । सारे धार्मिक कार्यों को "मंगता" कहा जाता है । जब एक लड़का वयस्क काल में प्रवेश करता है तो उसके कान सुनार द्वारा छिदवाये जाते हैं तथा उनमें बालियाँ पहना दी जाती हैं । यही लड़के केवल धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में भाग ले सकते हैं । यहां यह समझा जाता है कि एक अविवाहित पुरुष

की एक विवाहित पुरुष की अपेक्षा, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति हमेशा नीची होती है । अविवाहित व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके शव को जलाने या गाढ़ने के पहले, मंगता का कार्य किया जाता है ताकि उस व्यक्ति की आत्मा की स्थिति ऊंची हो जाए । इसी तरह एक व्यक्ति की यदि दो पत्नियों की लगातार मृत्यु हो जाती हे तो उसकी तीसरी शादी होने से पूर्व, उसका विवाह एक केले के पेड़ से करा दिया जाता है । ऐसे केले के पेड़ से विवाह को "बालक मंगता" या "केला मंगला" कहा जाता है । मंगता के तुरन्त बाद ही उस पेड़ को काट दिया जाता है । दक्षिण भारत में तीन अंक को अशुभ समझा जाता है, इसलिए जब एक व्यक्ति तीसरी बार विवाह करना चाहता है तब उसके अशुभ समय को समाप्त करने के लिए "केला मंगता" किया जाता है । इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति नया घर बनवाता है तो "माने मंगता" या "घर मंगता" किया जाता है ।

इन लोगों की संस्कृति में धार्मिक रूप से शुद्ध तथा अशुद्धता की धारणाएं पाई जाती हैं । यहां किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर घर दूषित हो जाता है । जिस दिन 'शोक' पूरा होता है उसी दिन से दूषण समाप्त होता है । जब कोई व्यक्ति धार्मिक रूप से अशुद्ध परिस्थिति में होता है तब वह अपनी उंगलियों से जीभ या दांतों को छू नहीं सकता । खाना बनाते समय कोई भी स्त्री मुंह में उंगली नहीं डाल सकती । खाना खाते समय यदि व्यक्ति अपने झूठे हाथों से सब्जी की कटोरी को छू लेता है, तो सारे सब्जी झूठी समझी जाने लगती है और फिर दूसरा कोई भी उसे नहीं खाता । कटे हुए नाखूनों तथा बालों को अशुद्ध समझा जाता है इसलिये उन्हें घर के बाहर फेंक दिया जाता है।

मैक्मि मैरियट ने उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी गांव का अध्ययन करने के बाद बताया कि यहां हिन्दुओं के अलग-अलग त्यौहारों को प्रत्येक महीने या सालाना मनाया जाता है जिसके कारण लोगों को एक दूसरे से मिलने का मौका मिलता है । होली-दीपावली के मौके पर पशु बली दी जाती है।

बंगाल के एक गांव का अध्ययन करने के बाद ज्योतिर्मय शर्मा ने बताया कि यहां प्रत्येक ब्राह्मण परिवार के घर में एक कमरा अलग से पूजा के लिए बनाया जाता है जिसमें परिवार के पहले बुजुर्ग व्यक्ति के द्वारा एक देवी की मूर्ति की स्थापना की जाती है । यही देवी पूरे घर के लोगों को एकता के बन्धन में बांध के रखती है, परिवार के विभाजन होने के बाद भी परिवार के सभी सदस्य पूजा के खर्च को बराबर बांट लेते हैं । प्रत्येक घर में सितम्बर, जनवरी तथा मार्च के महीनों में, लक्ष्मी देवी की पूजा की जाती है । ग्रामीण बंगाल में कई प्रकार की धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं । शरद ऋतु के महीने में दुर्गा पूजा का उत्सव मनाया जाता है । दुर्गा पूजा को ऊँची जाति का उत्सव माना जाता है जिसे प्राचीन समय में केवल राजा तथा जमींदार लोग ही मनाते थे । गांव में "नबन्ना" - कटाई का उत्सव भी मनाया जाता है । दिसम्बर के महीने में एक शुभ दिन को गांव के सभी बड़े बुजुर्ग नये चावल को देवी को चढ़ाते हैं और फिर सब उसे खाते हैं । पौश पर्वना का उत्सव भी कटाई के मौसम से जुड़ा हुआ है । इसे जनवरी के आखिरी दिन को मनाया जाता है, जहां लक्ष्मी देवी की पूजा की जाती है । "गजन" ग्रामीण बंगाल का एक और उत्सव है जिसे लोग बंगाली साल के आखिरी दिन को मनाते हैं (जैसे- तेरह अप्रैल को) । इस दिन शिव जी की पूजा की जाती है जो संसार के वैभव तथा दिखावे को पसन्द नहीं करता है ।

5.7 भारत की शहरीय संस्कृति तथा मान्यताएँ

भारत की शहरीय सामाजिक व्यवस्था ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के विपरीत है । शहरों में अलग-अलग संस्कृतियों में अन्त: क्रिया होती है जिससे प्रत्येक संस्कृति थोड़ी बहुत बदलने लगती है। यहां संस्कृतियों तथा विचारों और विश्वासों में विभिन्नताएं पाई जाती हैं । शहर की संस्कृति में एक मुख्य बात यह देखने को मिलती है कि यहां व्यक्ति के व्यवहार को केवल पुलिस या कानून द्वारा नियन्त्रित रखा जा सकता है । यहां जाति या परिवार का व्यक्ति के ऊपर पूरा नियन्त्रण नहीं हो सकता। शहरों में व्यक्ति केवल कानून से घबराता है ।

भारत के प्रत्येक शहर में व्यक्ति को एक ऊंची सामाजिक परिस्थिति उसके शिक्षा कार्य या धन के आधार पर प्राप्त होती है । यहां तो जाति के आधार पर व्यक्ति को किसी भी प्रकार प्रस्थिति नहीं मिलती । गांव के एक नीची जाति का व्यक्ति भी शहर में पढ़-लिखकर, धन कमाकर, एक बड़ा व्यक्ति बन सकता है । आदमी जितना चाहे वह सामाजिक स्तरीकरण की इस व्यवस्था में ऊंचा उठ सकता है । शिक्षा ने ही महिलाओं को आगे बढ़ने में मदद की है और शिक्षित स्त्री-पुरुष अपने पुराने विचारों तथा रहने के तरीकों को छोड़कर नये विचारों तथा व्यवहार करने के तरीकों को अपना रहे हैं। शहरों के महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में स्त्री पुरुष एक साथ, चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों, उठते-बैठते हैं और अध्ययन करते हैं । नये-नये सामाजिक परिवर्तनों को शहर वासियों ने ही जल्दी अपना लिया है ।

शहर वासी एक अपना ही अलग व्यक्तित्व तैयार कर लेते हैं । उनके विचार, मान्यताएँ, व्यवहार, करने के तरीके अपनी ही इच्छा के अनुसार बनते हैं । उनके सामने पुरानी मान्यताएँ या प्रथाएँ सब बेकार नजर आती हैं । वह अपनी जिन्दगी के बारे में स्वयं सोचता है और उसे अपनी इच्छा से ढालने का प्रयत्न करता है ।

शहरों में सामुदायिक भावना की कमी देखने को मिलती है । परिवार के सदस्यों में एकता तथा अखण्डता जैसी कोई चीज नजर ही नहीं आती । व्यक्ति अपने ही उद्देश्यों को सामने रखकर कार्य करता चला जाता है । वह परिवार के बारे में सोचने की कोशिश ही नहीं करता । इसी व्यक्तिवादिता के कारण संयुक्त परिवारों में विभाजन होता जा रहा है । आज का शहरीय व्यक्ति अपनी पत्नी तथा अविवाहित बच्चों के साथ ही रहना पसन्द करता है । माता-पिता तथा भाई बहनों के साथ उसका रिश्ता द्वितीयक होता जा रहा है ।

शहरों में लोगों के नैतिक मूल्यों का भी पतन हो रहा है । शहरों के दिखावे के कारण व्यक्ति अपनी नैतिकता को भूल जाता है । अपनी ऊंची स्थिति को बनाये रखने के लिए व्यक्ति गैर सामाजिक तथा गैर कानूनी कार्यों को अपनाने लगा है । उसके चरित्र पर चलचित्रों का प्रभाव अत्यन्त भयानक रूप से पड़ रहा है । वह उनको देखकर अपने सीधे सादे जीने के तरीकों को छोड़कर दिखावे की दुनिया में फंसता चला जा रहा है ।

शहरों में अलग- अलग वर्गों के बीच में तनाव तथा तकरार देखने को मिलते हैं । प्रत्येक व्यक्ति दूसरे वर्ग से ऊपर उठने की कोशिश करता है । इसी संघर्ष का प्रभाव व्यक्ति के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य पर पड़ता है । इसलिये कहा जाता है कि शहरीय समाज एक टूटा समाज है जहां व्यक्ति की टूटी जिन्दगी में केवल तनाव तथा संघर्ष ही पाया जाता है ।

शहरों में विवाद के प्राचीन तरीके तथा रीति रिवाज परिवर्तन की दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। यहां लड़का-लड़की स्वयं भी अपने साथी का चुनाव कर लेते हैं। उस अवस्था में माता-पिता तथा धर के बड़े बुजुर्गों की विवाह में परम्परागत भूमिका धीरे- धीरे समाप्त होती नजर आ रही है। शादियां भी कोर्ट में होने लग गयी हैं। पुराने रस्म रिवाज आज केवल मात्र गांव की सीमा के अन्दर तक ही रह गए हैं।

समाजशास्त्री कहते हैं कि शहर की जिन्दगी के अपने कुछ प्रभाव हैं तथा दबाव होते हैं और मनुष्य की रोज की दिनचर्या, उसके रहने के स्थान तथा खाने की मात्रा के ऊपर, उसकी जाति या धर्म के बजाय, उसकी नौकरी का ज्यादा प्रभाव पड़ता है। यह सारी बातें उस समय सच होती दिखती हैं जब व्यक्ति का शहर ज्यादा औद्योगिक हो। इससे भी ज्यादा प्रभावित वे लोग होते हैं जो गांव को छोड़कर शहरों की ओर भागे चले आते हैं, तथा जाति व रिश्तेदारों के दबाव से मुक्त होना चाहते हें। वे केवल अपने शहर के साथियों तथा पड़ोसियों के द्वारा बनाए गये प्रतिमानों का पालन करना चाहते हैं। 1930 में मैसूर के ब्राह्मण कॉफी पीने कॉफी की दुकानों में नहीं जाते थे, चाहे वहाँ ब्राह्मण ही क्यों न कॉफी बनाता हो। आज प्रत्येक कॉफी की दुकान पर एक कमरा ब्राह्मणों के लिए अलग रखा जाता है। आजकल के पढ़े लिखे ग्राहक कॉफी की दुकानों में सफाई के बारे में चिन्तित रहते हैं न कि जाति के बारे में। शिक्षा के प्रसार के कारण आज की जनसंख्या के प्रत्येक वर्ग में, केवल सफाई व स्वास्थ्य नियमों पर ध्यान दिया जाता है न कि प्राचीन शुद्धता के विचारों पर। शिक्षित हिन्दू केवल परम्परागत व्यवहारों का तार्किकीकरण करते हुए पाया जाता है। उसके अनुसार शुद्ध स्वास्थ्य विज्ञान से ज्यादा कुछ भी नहीं है और इसके साथ धार्मिक व्यवहार इसलिये जोड़ दिया गया था ताकि व्यक्ति इसके बारे में सतर्क रहे। प्राचीन काल में महिलाएं दूषण के बारे में बहुत चिन्तित रहती थी, तथा रसोई घर को दूषण से ज्यादा स्वास्थ्य विज्ञान व पौष्टिकता पर ध्यान देती हैं। कुछ औरतें जब अपने सास-ससुर या माता-पिता के साथ रहती हैं तभी वे दूषण के नियमों का पालन करती हैं। दूसरा क्षेत्र जो प्रभावित हुआ है, वह है धार्मिक संस्कार/ कई धार्मिक अनुष्ठान जैसे नामकरण संस्कार और सालाना जनेऊ को बदलना (उपकर्मा) आजकल समाप्त होते नजर आ रहे हैं। कई वर्षों पहले तक लड़कियों के यौवनागम को धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा मनाया जाता था। पति की मृत्यु के बाद ब्राह्मण विधवा के सर को मुंडवा देने की प्रथा भी लगभग समाप्त होती जा रही है। आजकल तो पढ़ी- लिखी विधवाएं दूसरी शादी के लिए भी इन्कार नहीं करती। विवाह के धार्मिक अनुष्ठान भी छोटे होते जा रहे हैं। पहले ब्राह्मणों की शादी 5-7 दिनों तक चलती थी। आजकल सारे अनुष्ठान एक या दो दिन में समाप्त कर दिये जाते हैं। कन्यादान तथा सप्तपदी जैसे धार्मिक कृत्यों को देखने केवल रिश्तेदार ही आते हैं और बाकी दूसरे मेहमान विवाह में खाना खाकर चले जाते हैं। विवाह की आयु के बढ़ने से भी लड़कियों को आजकल उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिल रहे हैं। प्राचीन काल में छोटी लड़कियाँ केवल रसोई में माँ के आस-पास घूमती रहती थी जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था। उसके लिए केवल रसोई सम्बन्धी ज्ञान ही आवश्यक होता था। शिक्षा ने ही लड़कियों को नये विचार तथा आशाएं दी हैं। इसी के कारण वे अपनी दूषण के नियमों को तथा धार्मिक अनुष्ठानों को बदल पाई हैं।

हमारे मांगलिक प्रतीक

प्रत्येक मनुष्य जीवन में सदैव सौभाग्य, सुख, सफलता व सम्म्पनता की आकांक्षा करता है। भारतीय परम्पराओं में सुमंगल की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये मांगलिक चिन्हों की सृजना

की है । शनैः-शनैः आठ शुभ प्रतीकों का एक मंडल बना जिसे सामूहिक रूप से अष्ट-मांगलिक कहा गया, जो निम्न प्रकार से है : -

स्वास्तिक :- भारत ही नहीं विश्व की विभिन्न सभ्यताओं में सर्वाधिक प्राचीन व श्रेष्ठ मांगलिक चिह्न स्वास्तिक- सूर्य का प्रतीक था तथा जीवन के स्वास्तिक भाव या कल्याण का सूचक रहा था । स्वास्तिक शब्द 'सु+अस+क' से बना है । जिसमें 'सु' का अर्थ 'अच्छा', 'अस' का अर्थ 'अस्तित्व' अथवा 'सत्ता' तथा 'क' का तात्पर्य 'कर्त्ता' से है । अर्थात इसका अर्थ बना 'अच्छा' या 'मंगल' करने वाला । स्वास्तिक शब्द में किसी व्यक्ति विशेष का नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण या 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना निहित है ।

स्वास्तिक में एक दूसरे को काटती हुई दो सीधी रेखाएं होती हैं, जो आगे चलकर फिर से मुड़ जाती हैं । इसके - बाद भी ये रेखाएं अपने सिरों पर थोडी और मुड़ी होती हैं । स्वास्तिक के चारों ओर लगाये गये बिन्दुओं को चार दिशाओं का प्रतीक माना जाता है । स्वास्तिक की दो मुख्य रेखाएं पुरुष एवं प्रकृति की प्रतीक हैं । भारतीय संस्कृति में स्वास्तिक चिन्ह को विष्णु, सूर्य, सृष्टि चक्र तथा सम्पूर्ण ब्रह्मांड का प्रतीक माना गया है । आगे चलकर श्री गणेश का नाम भी इसमें जुड़ गया है । पुराणों में इसे सुदर्शन चक्र का प्रतीक माना गया है । यास्काचार्य ने इसे ब्रह्म का ही स्वरूप समझा है । स्वास्तिक की भुजाओं को कहीं चार वेद तो कहीं धनात्मक चिन्ह स्वीकारा है ।

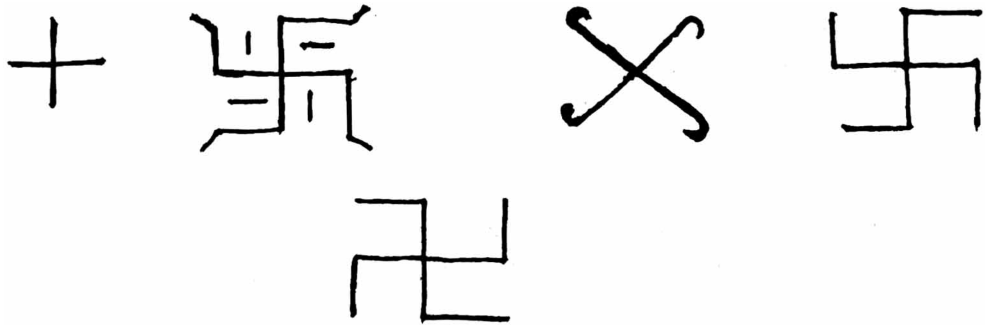

भारत कीं प्राचीन सभ्यताओं से प्राप्त वस्तुओं पर स्वास्तिक आकृतियां

हमारे जनजीवन में मांगलिक प्रतीकों में स्वास्तिक एक ऐसा चिन्ह है जो अत्यन्त प्राचीन काल से लगभग सभी धर्मो एवं सम्प्रदायों से जुड़ा रहा है । भारत में तो इसकी जड़े गहरी फैली हुई हैं । विदेशों में भी स्वास्तिक को शुभ और विजय का चिह्न समझा जाता है । सिन्धु घाटी से प्राप्त उपकरणों पर स्वास्तिक की आकृतियां खुदी मिली हैं । मत्स्य पुराण में मांगलिक प्रतीक के रूप में इसकी चर्चा की गयी है । पाली भाषा में इसे साखी या साकी कहा गया है और आज भी भारत के अनेक भागों में इसे इसी नाम से सम्बोधित किया जाता है । जैन परम्परा में इसे श्रेष्ठ मंगल प्रतीक कहा गया है । महात्मा बुद्ध की मूर्तियों पर भी इसे अंकित किया गया है । यूनान एवं साइप्रस में की गयी खुदाइयों में जो मिट्टी के बर्तन मिले हैं, उनमें भी यह चिह्न मिला है । आस्ट्रीया के राष्ट्रीय संग्रहालय में 'अपोलो' की प्रतिमा पर स्वास्तिक चिह्न अंकित है । रेड इण्डियन स्वास्तिक को सुख और सौभाग्य का प्रतीक समझते हैं ।

मंगल घट :- पत्र पुष्पों से अलंकृत व जल से भरा घड़ा वैदिक काल से आज तक श्रेष्ठ मंगल प्रतीक समझा गया है । पूर्ण कुम्भ, भद्रकलश आदि सम्बोधनों से युक्त यह मांगलिक चिह्न सम्पूर्णता, सुमंगल, समृद्धि व सम्पन्नता का सूचक है । सृष्टि का सृजन जल से होने के कारण यहां जल ब्रह्मांड की सर्जना का प्रतीक समझा गया है । इसी कारण जल से भरा घट ही केवल मंगल घट होता है व आम्रपल्लव लगने से वह पूर्णाहार बनता है। आम एक सदाबहार वृक्ष है जिसकी पतियाँ निकलने के बाद जीवन की निरन्तरता का बोध कराती है । यही कारण है कि मृत्यु होने की दशा में जीवन की समाप्ति के प्रतीकात्मक अर्थ के रूप में 'घट' को फोड़ दिया जाता है । इसके अतिरिक्त घर को भी 'मंगल घट' कहा जाता है व किसी भी धार्मिक अनुष्ठान में सर्वप्रथम 'मंगल घट' का ही ब्रह्मा, विष्णु व महेश के रूप में पूजा की जाती है ।

कमल : - भारतीय चिन्तन में कमल के इतने अर्थ हैं कि यदि इसे भारतीय संस्कृति का विश्वकोष भी कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । कमल सदैव ही सूर्य की ओर उन्मुख होकर ही उसके प्रकाश मे खिलता है । सूर्य अगर ब्रह्म का रूप है तो कमल प्राण का । उपनिषद में लिखा है कि "आदित्य तवें प्राणों" । कमल को सृष्टि का प्रतीक समझा जाता है । भगवान विष्णु की नाभि से कमल का उत्पन्न होना एवं उस पर ब्रह्म जी का बैठकर सृष्टि का सर्जन करना कमल की महता स्वयं सिद्ध होती है । सीरिया व सुमेरिया की संस्कृति में भी कमल की महत्ता है । बौद्ध धर्म में तो कमल सर्वत्र छाया हुआ है । बौद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तार' में इसे अष्टमंगल कहा गया है । कला के क्षेत्र में तो कमल सदैव ही प्राथमिकता के साथ मंगल रूप में स्वीकार किया गया है । मुगल स्थापत्य कला में भी कमल सर्वोच्चता से उभरकर सामने आया है । यह कीचड़ में भी उत्पन्न होकर निर्मल रहता है । इसी कारण इसे सुचिता, निर्मलता, पवित्रता तथा अपने गुणों के फलस्वरूप आध्यात्मिकता व ज्योतिर्मय प्रकाश की अभिव्यक्ति के रूप में पहचाना जाता है ।

पंचागुलक : - पंचतत्व क प्रतीक के रूप में पाँच की संख्या का बहुत महत्व है । इसी का प्रतिनिधित्व दाहिने हाथ की पाँच अंगुलियाँ करती है व उसकी छाप को पंचागुलक कहकर मांगलिक माना जाता है । यह तो विख्यात ही है कि पंच तत्वों (वायु, अग्नि, जल, आकाश एवं पृथ्वी) से शरीर का निर्माण होता है और मृत्यु के पश्चात् ये तत्व पुन: स्वतंत्र एवं प्राकृतिक अवस्था में आ जाते हैं । मृतक के दाह संस्कार के पश्चात् पाँचों अंगुलियाँ नष्ट नहीं होती जो इन मूलभूत पंच तत्वों की निरन्तरता अनश्वरता का द्योतक है । यही कारण है कि समाज व व्यक्ति के जीवन के अनेक मांगलिक अवसरों जैसे, गृह प्रवेश, विवाह व पुत्र जन्म पर हल्दी व चावल की पीठि से पंचागुलक दीवारों पर छापने की परम्परा है ।

पंचागुलक में हाथ की कर्म के रूप में महत्ता है । हमारे जीवन की सभी गतिविधियाँ चाहे वह जीविकोपार्जन की हो अथवा किसी धार्मिक अनुष्ठान की, सभी हाथ के द्वारा ही सम्भव है । देवताओं की अभय मुद्रा का भी यही रूप है । बौद्ध धर्म में तो भगवान बुद्ध की विभिन्न मनोदशाओं व महत्वपूर्ण घटनाओं को हस्त मुद्राओं से ही दिखाया गया है । इसके अतिरिक्त पांच अंक का महत्व भारतीय ही नहीं बल्कि विश्व की अनेक संस्कृतियों में भी विशेष है । सिक्ख धर्म में खालसा के रूप में पंच-प्यारों का विशिष्ट स्थान व प्रभाव है । इस्लाम में हजरत अली का पंजा 'अतन' इस मांगलिक चिन्ह की लोकप्रियता का साक्षी है ।

श्री वत्स : - भगवान विष्णु के व जैन तीर्थंकरों के वक्षस्थलों तथा गौतम बुद्ध क चरणों को सुशोभित करने वाला यह चिह्न भारत के अनेक धर्मों व सम्प्रदायों में अष्टमांगलिक प्रतीक माना गया है । वैसे श्री- वत्स का अर्थ है श्री का पुत्र । अत: लक्ष्मी का पुत्र होने के कारण यह भी सुख, समृद्धि व सम्पन्नता का द्योतक है । यह चिह्न समय के साथ-साथ महापुरुष लक्षण में परिवर्तित हो गया । श्री वत्स की आकृति एक छोटी सी मानव मूर्ति के समान थी जो अलग-अलग समय में विभिन्न रूपों में दिखायी गयी । जैसे कभी नाग-मिथुन के रूप में तो कभी चतुर्दल पुष्प के रूप में । इस चिह्न की एक और विशेषता यह है कि इसका स्वास्तिक के साथ युग्म सा है । इसके अंकन का विशेष महत्व रहा है । वाणी द्वारा जो स्वास्तिवाचन किया जाता था वही कला में 'स्वास्ति श्री' कहलाया । यह प्रतीक सार्वभौमिक कल्याण व मांगलिक भावनाओं का द्योतक बना ।

शंख : - पंचमहाभूतों में आकाश तत्व का प्रतीक- शंख भी जलसंभव है । आकाश से ही नाद या ध्वनि का जन्म हुआ जिससे फिर अन्य तत्वों की उत्पति हुई । इसके अतिरिक्त यह प्राचुर्य व निधि का भी प्रतीक है । प्रचलित मान्यताओं के अनुसार शंख दो प्रकार के होते हैं- दक्षिणावर्ती एवं वामावर्ती । इनमें से दक्षिणावर्ती शंख बहुत ही दुर्लभ है व धार्मिक अनुष्ठानों के लिये शुभ माना जाता है । यह भी कहा जाता है कि इसकी ध्वनि जीवाणुनाशक है । महाभारत की गाथाओं से विदित होता है कि युद्ध से पूर्व अपनी युद्ध इच्छाओं को व्यक्त करने के लिये यौद्धागण शंखनाद किया करते थे।

मीनयुग्म : - 'शोभा' सौभाग्य व सफलता के लिये एक अच्छे शकुन के रूप में दो मछलियों का युग्म एक प्रतिस्थित मांगलिक प्रतीक है । इसी कारण लोग घरों के दरवाजों पर मत्स्य युग्म अंकित करवाते हैं । ताकि इस प्रतीक का एक अच्छे शकुन के रूप में सदैव देख सके । पुराणों में भगवान विष्णु का प्रथम अवतार 'मीन' के रूप में ही दिखाया है । प्रलयकाल में इसी ने नाव के रूप में मनु व सृष्टि की रक्षा की थी । आश्चर्य यह है कि इसी से मिलती-जुलती गाथाएँ अनेक प्राचीन संस्कृतियों में भी ज्ञात होती हैं । कला में भी मीन युग्म लगभग सभी प्राचीन संस्कृतियों में दृष्टिगत होता है । हड़प्पा सभ्यता की मोहरों में व सांची के स्तूप में इसे देखा जा सकता है । स्त्रियों के कानों में भी मत्स्य कुण्डलों का इसके मांगलिक स्वरूप का ही द्योतक है ।

चक्र : - गति व काल के प्रतीक के रूप में 'चक्र' का ही बोध कराया जाता है । सृजन, पालन व संहार यही चक्र अनवरत रूप से चल रहा है । चक्र के दो भाग हैं, केन्द्र रख परिधि । दोनों क्रमश: विश्राम और गति, एकता व अनेकता, जड़ व चेतन इन सबमें समन्वय व सामंजस्य को प्रदर्शित करते हैं । वृहदराण्यक उपनिषद (2. 5. 15) में तो संसार व जीवन की तुलना भी केन्द्र व परिधि रूप चक्र में ही की गयी है । बौद्ध धर्म में तो भगवान बुद्ध का सारनाथ में दिया गया उपदेश धर्मचक्र परिवर्तन कहलाया । जैन धर्म में यह मान्यता है कि कैवल्य प्राप्त होने पर धर्म चक्र आगे चलता है । रूचिकर बात यह है कि हड़प्पा सभ्यता कालीन यह प्रतीक भारत के राष्ट्रीय ध्वज के मध्य में भी स्थित है । यह परम्पराओं की जीवंतता का प्रतीक है ।

5.9 सारांश

मानव संस्कृति एवं परम्पराओं का धारक, निर्माता एवं संवर्द्धन है । मानव ने अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों में निरन्तर विकास किया है और प्रकृति पर अधिक से अधिक नियन्त्रण कर उसी गुत्थियों को समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया है । संस्कृति इसी समझ व प्रयास के कारण विभिन्न स्थलों पर वहां की भौगोलिक एवं पर्यावरणीय अवस्थाओं की पृष्ठभूमि में पृथक-पृथक विशेषताओं को लेकर

विकसित हुई है । इन्हीं विशेषताओं ने दो संस्कृतियों के मध्य विभेद भी उत्पन्न किया है । इन भेदों को हम मानव की जीवन शैली, भाषा, सामाजिक प्रतिमान तथा मान्यताओं के आधार पर व्यक्त कर सकते हैं । जहां तक मान्यताओं में धार्मिक मान्यताओं एवं आस्थाओं का प्रश्न है, स्पष्ट एवं स्वीकारी हुई है । परन्तु लौकिक मान्यताओं अथवा सामाजिक मान्यताओं के पीछे एक ऐसी मान्यता और छिपी रहती है । जिसके बारे में कम ज्ञान रहता है । अत: हमें मान्यताओं की अवधारणाओं को एक विशिष्ट समय या समाज के संदर्भ में समझना चाहिये । मान्यताएं विश्वास पर चलती है 1 मान्यताएं संस्कृति का ही भाग होती हैं । यहाँ हम संस्कृति को मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार, प्रकारों की समग्रता कह सकते हैं ।

भारतीय मान्यताओं का एक उज्ज्वल पक्ष यह है कि इसकी ऐतिहासिकता व निरन्तरता दोनों समृद्ध हैं । भारतीयों का चिन्तन उच्च आध्यात्मिकता तथा भय सूचक उपदेवताओं दोनों से ही प्रभावित रहा है । इन्हीं बिम्बों ने आगे चलकर मूर्ति पूजा का स्वरूप धारण करके शनैः-शनै: संस्थागत रूप भी धारण कर लिया था । जनजातियों की मान्यताएं प्रकृति व भय प्रदान करने वाली शक्तियों की उपासना की पद्धतियों के इर्द गिर्द अधिकांशत: घूमती रही हैं । इनकी सामाजिक मान्यताओं की धारण इनके समाज के स्वरूप जैसे- मातृ सत्तात्मक, पितृ सत्तात्मक, बहु पति, बहु पत्नी, संयुक्त परिवार आदि से प्रभावित होकर निर्मित हुआ है । भारत की कृषि प्रधान ग्रामीण समाज की मान्यताएं भी भय-सूचकों से प्रभावित रही है परन्तु साथ ही साथ उत्पादन के विभिन्न पक्षों एवं स्थायी जीवन की इच्छा से भी निर्मित हुई हैं । ग्रामीण समाज की मान्यताओं में सामूहिक कार्य दायित्व की प्रेरणा व बोध का तत्व भी सक्रिय है । मेले व त्यौहार भी इन्हीं भावनाओं का एक विस्तृत रूप है । चूंकि जाति-व्यवस्था भी शनैः-शनै: सम्पति व व्यवसाय पर वंशानुगत अधिकारों को सुरक्षित करने के लिये कठोर होती चली गयी हैं इस कारण सामूहिकता का अर्थ भी बदलने लगा था फिर भी सार्वजनिक जीवन का अपना एक महत्व था इस कारण सामाजिक व सार्वजनिक मान्यताओं का भेद होने लगा । शहरों में अलग-अलग संस्कृतियों में अन्तःक्रिया होती है । जिसमें प्रत्येक संस्कृति बदलने लगती है । शहर की संस्कृति में एक मुख्य बात यह भी देखने में आती है कि यहां के व्यक्ति का व्यवहार पुरानी मान्यताओं के स्थान पर पुलिस तथा लिखित कानून द्वारा अधिक दिग्दर्शित होता है। शहरों में सामुदायिक भावना की कमी देखने का मिलती है । परिवार के सदस्यों में भी एकता व अखण्डता जैसी बात दृष्टिगत कम होती है । शहर के जीवन कें अपने कुछ प्रभाव तथा दबाव होते हैं । मनुष्य की रोज की दिनचर्या, उसके रहने के स्थान तथा खाने की मात्रा के ऊपर, उसकी जाति या धर्म के स्थान पर उसकी 'नौकरी या' शहरी व्यवसाय' का अधिक प्रभाव पड़ता है ।

5.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये : -

(1) मान्यताओं एवं संस्कृति को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है?

(2) भारत की लोक मान्यताओं की प्राचीनता समझाइये ।

(3) क्या ग्रामीण मान्यताएं सामूहिकता के विचार से प्रभावित है?

(4) शहरी मान्यताएँ व संस्कृति अपने दबावों व कार्यशैली से प्रभावित है । कैसे?

(5) आधुनिक शिक्षा ने हमारी मान्यताओं को किस प्रकार प्रभावित किया है?

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये : -

(1) जनजातीय संस्कृति एवं मान्यताओं पर अपने विचार प्रकट कीजिये ।

(2) भारत के मांगलिक प्रतीकों पर टिप्पणी लिखिये ।

(3) ग्रामीण लोकप्रिय मान्यताओं की रूप-रेखा समझाइये ।

5.10 पठनीय ग्रन्थ

1. जी. स्लोटर, "द द्रविडियन एलिमेन्ट इन इण्डियन कल्चर"
2. पं. मोहन लाल महतो, "जातक - कालीन भारतीय संस्कृति"
3. एम. एन. श्रीनिवास, "कॉस्ट इन मॉडर्न इण्डिया अदर फसेज"
4. एम. एन. श्रीनिवास, "इण्डियाज विलेजेस"
5. श्याम सिंह शशी, "भारत की पशुपालक जातियाँ"
6. प्रभा शंकर पाण्डेय, "इपिपेक्टस ऑफ इण्डिस्ट्रयलाईजेशन आन द रूरल कम्यूनिटी"
7. डॉ. डी. एन. मजुमदार, "रईसेज एंड कल्चर्स ऑफ इण्डिया"

इकाई 6 भारतीय शैलचित्र : परम्परा एवं संस्कृति

इकाई संरचना

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 भारतीय शैलचित्र बीथिकाएं

6.4 भारत में शैलचित्रों की खोज

- 6.4.1 शैलचित्र स्थल
- 6.4.2 कलात्मक मूल्यांकन

6.5 कालक्रम

6.6 शैलचित्र परम्परा

6.7 क्षेत्रीय विशेषताएँ

- 6.7.1 पूर्वी क्षेत्र
- 6.7.2 हिमालय क्षेत्र
- 6.7.3 दक्षिणी क्षेत्र
- 6.7.4 विन्ध्य क्षेत्र
- 6.7.5 चम्बल घाटी एवं अरावली क्षेत्र

6.8 सारांश

6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.10 संदर्भ ग्रन्थ

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है :-

(अ) हम यह जान सके कि भारत का विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में कितना महत्वपूर्ण स्थान

(ब) शैलचित्रों के माध्यम से प्राचीन संस्कृतियों व कलाओं की पहचान की जा सकती है ।

(स) शैलचित्रों का इतिहास कितना प्राचीन है ।

(द) मानव ने प्राकृतिक रहस्यों एवं अपने सामाजिक जीवन को किस भाँति व कितनी सूक्ष्मता से प्रदर्शित किया है ।

(इ) शैलचित्रों के विषय क्या हैं? इनकी प्रमुख स्थलियाँ कौनसी हैं?

(एफ) शैलचित्रों की तूलिका, रंग, परिवेश एवं प्रेरणा के स्रोत किस प्रकार समझे जा सकते हैं ।

(जी) शैलचित्रों का हमारी परम्पराओं में क्या स्थान है व यह युग किस प्रकार शनैः शनैः लोप हो जाता है ।

6.2 प्रस्तावना

साहसिक व सृजनात्मक कार्य करना और आनन्द से जीना मानव का स्वभाव है । इसी स्वभाव के फलस्वरूप वह आदिकाल से ही प्रकृति व ब्रह्माण्ड के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिये निरन्तर प्रयास करता रहा । मार्ग में आई चुनौतियों का उसने डटकर मुकाबला किया । उन पर विजय पाने के प्रयास में उसने कितने ही आविष्कार किये । विजय के उल्लास, आनन्द के उद्‌वेग एवं अन्य मनोभावों को उसके सृजनशील मन ने विभिन्न विधाओं एवं अनेक माध्यमों में अभिव्यक्त किया । हमारे आदि पूर्वजों की इसी सृजनात्मक परम्परा की एक धारा है शैलचित्र जो अत्यधिक समृद्ध और अकूत है । व्यक्ति एवं समाज के जीवन से रचा बसा शैलचित्र सृजन का यह आन्दोलन विश्वव्यापी था । हम भाग्यशाली है कि भारत शैलचित्र धरोहर के क्षेत्र में विश्व के तीन सम्पन्नतम देशों में से एक हैं। आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका भी इतने ही सम्पन्न हैं ।

6.3 भारतीय शैलचित्र वीथिकायें

भारत में शैलचित्र वीथिकाओं के लगभग 500 समूह ज्ञात हैं । प्रत्येक समूह में लगभग 10 से 100 तक चित्रित शैलाश्रय हैं जो उत्तर में लद्दाख़ से लेकर दक्षिण में केरल व तमिलनाडु तक, पश्चिम में थार के रेगिस्तान में बसे बाढ़मेर व जोधपुर से लेकर पूर्व में मणिपुर तक फैले हुए हैं । इनमें से विन्ध्य व चम्बल घाटी क्षेत्र रंग से बने शैलचित्रों से अति सम्पन्न हैं । विन्ध्य पर्वत-श्रृंखला में भोपाल के पास स्थित चित्रित शैलाश्रयों का समूह 'भीमबेटका' भारतीय शैलचित्रों का पर्याय बन चुका है । ए.एस. आई., रासी एवं इफराओं के संयुक्त प्रयासों से इसे यूनेस्को द्‌वारा शीघ्र ही विश्वविरासत के रूप में मान्य किया जा रहा है । इससे भारतीय शैलचित्रों का विश्वव्यापी प्रसार होगा और इस धरोहर के वैज्ञानिक संरक्षण के लिये अन्य भारतीय जन एवं विद्‌वान भी जागरूक होकर प्रयास करने लगेंगे ।

चम्बल घाटी में चतुर्भुजनाथ नाला, केरल में ऐडेक्कल गुहा, उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर के पास कउआखोह, सुवाखोह आदि भी जाने माने शैलचित्र स्थल हैं । राजस्थान में कन्यादह, चट्टानेश्वर, कालाजी की कुई और गोपीचन्द का छाजा, उत्तर पूर्व में बैराट व काला पहाड़ तथा दक्षिण में पाली जिले के शैलचित्र स्थल भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ।

6.4 भारत में शैलचित्रों की खोज

भारत में शैलचित्रों की खोज सर्वप्रथम 1867 में कैमूर पर्वत श्रृंखलाओं से आर्चिबाल्ड कार्लाइल ने की थी । 1883 में जे. कॉकबर्न ने घोरमनगर जिला मिर्जापुर में गैंडे का चित्र खोजा । शैलचित्रों की इन खोजों ने भारत में शैलचित्र अध्ययन की आधारशिला रखी । इसके बाद बीसवीं सदी के प्रारम्भ में सी.डब्ल्यू. एण्डरसन, पन्चानन मित्र, मनोरंजन घोष, डी. आर. हण्टर और डी.एच. गॉर्डन ने इस कार्य को आगे बढ़ाया । इस सदी के उत्तरार्द्ध में रेमण्ड एवं ब्रिगेट एल्चिन, आर. के. वर्मा, जगदीश गुप्त, वी. एस. वाकणकर, एस. के. पाण्डे, वाय. मठपाल, ए. सुन्दरा व शंकर तिवारी ने चित्रित शैलाश्रयों की खोज और उनके अध्ययन के कार्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया । भीमबेटका शैलाश्रय समूह की खोजकर वाकणकर ने शैलचित्रों की खोज एवं अध्ययन में एक क्रांतिकारी योगदान किया । यहाँ के शैलाश्रयों का अध्ययन एवं पुरातात्विक उत्खनन 1971 से 1978 तक वाकणकर एवं उनके साथी, विक्रम

विश्वविद्यालय, उज्जैन, वी. एन. मिश्रा एवं उनके साथी, डॅक्कन कॉलेज, पूना और एस.के. पाण्डे व साथी, सागर विश्वविद्यालय ने किया ।

रॉक आर्ट सोसाइटी ऑफ इण्डिया (रासी) से जुड़े विद्वानों एवं वैज्ञानिकों के प्रयासों से भारत में शैलचित्रों का वैज्ञानिक अध्ययन अब धीरे- धीरे एक स्वतंत्र विधा (डिसिप्लिन) का रूप ले रहा है।

6.4.1 शैलचित्र स्थल

सिकताश्म, चूनाश्म व ग्रेनाइटी चट्टानों के क्षेत्र में नदी, नालों, गहरों की दीवारों एवं पर्वतों की छाती पर प्रकृति ने शैलाश्रयों व कन्दराओं की रचना की है । इन्हीं की दीवारों और छतों पर मानव द्वारा गेरू, खड़िया तथा अन्य खनिज रंगों से रेखा चित्रण एवं रंगाघातों से या खोद-खरोंचकर बनाये शैलचित्रों का अद्भुत संसार है । ये चित्र सामान्यत: एक के ऊपर एक और कभी-कभी स्वतंत्र रूप से भी बनाये गये हैं । खुदे हुये शैलचित्र ग्रेनाइट व बासाल्ट क शिलाखण्डों पर खुले में भी मिलते हैं ।

6.4.2 कलात्मक मूल्यांकन

शैलचित्रों की लयबद्ध गतिशील रेखाओं एवं तूलिका के सधे आघातों में पुराकालीन चित्रकार ने अपने मनोभावों एवं संवेदनाओं की स्वाभाविक, सहज-सशक्त अभिव्यक्ति की है । कहीं-कहीं उसने सजग होकर प्रयोग भी किये हैं । कुछ उदाहरणों में आधुनिक कला के मूर्त रूपों व कलाकार के स्वप्न लोक को भी देखा जा सकता है । इन सब में चित्रकार ने सीमित रेखाओं एवं तूलिकाघातों से ही गजब का प्रभाव ला दिया है । जब हम प्रकृति की गोद में बैठकर इन चित्रों को उनके पूर्ण परिवेश में जी भर कर देखते, समझते हैं तो एक सुखद अनुभूति होती है जो अपने अन्दर के सुषुप्त सृजक को जगाती है कुछ रचने के लिये ।

6.5 कालक्रम

भारत में ए.एम.एस. रेडियो कार्बन पद्धति से शैलचित्रों के काल निर्धारण की प्रक्रिया अभी प्रारम्भ होनी है । इसके अभाव में शैलचित्र अध्येताओं ने भारतीय शैलचित्रों के कालक्रम का निर्धारण पुरातात्विक एवं भौमितिय प्रमाणों, शैलचित्र स्थलों पर पुराजलवायु के प्रभाव और शैलचित्रों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के साम्य के आधार पर किया है । इसके अनुसार भारतीय शैलचित्रों के विकास को प्रमुख तीन युगों में बाटा गया है ।

प्रथम युग :- कलात्मक जटिल अल्पना चित्र, ऊर्जावान चपल पशु, शिकारी एवं धनुर्धर, नृत्य एवं शिकार के दृष्य तथा उत्तर पुराश्मीय और मध्याश्मीय (लगभग 35000 से 5000 हजार वर्ष पूर्व) प्राकृतिक परिवेश व जीवन यापन से जुड़े चित्र इस समूह में रखे गये हैं । हाल ही में हुए नवीन अन्वेषणों से मध्य प्रदेश में भीमबेटका, रायसेन, दरकी चट्टान एवं राजस्थान में कन्यादह, बाजणीभाट व बैराट में कप मार्क्स एवं खुदी हुई रेखाओं के रूप में भारतीय शैलचित्रों के उद्भव के नूतन आयाम प्रकाश में आये हैं । चित्रित चट्टानों पर पुराजलवायु के प्रभाव एवं पुरातात्विक प्रमाणों के अध्ययन के आधार पर लगता है कि ये चित्र अश्युली एवं मध्यपुराश्मीय उपकरणों के उपयोग करने वाले मानव द्वारा बनाये गये होंगे । अर्थात् भारत में कला का उद्भव लगभग दो-ढाई लाख वर्ष पूर्व से चालीस हजार वर्ष पूर्व के बीच हो गया था । इनके ठीक-ठीक काल निर्धारण की दिशा में विद्वान प्रयासरत हैं ।

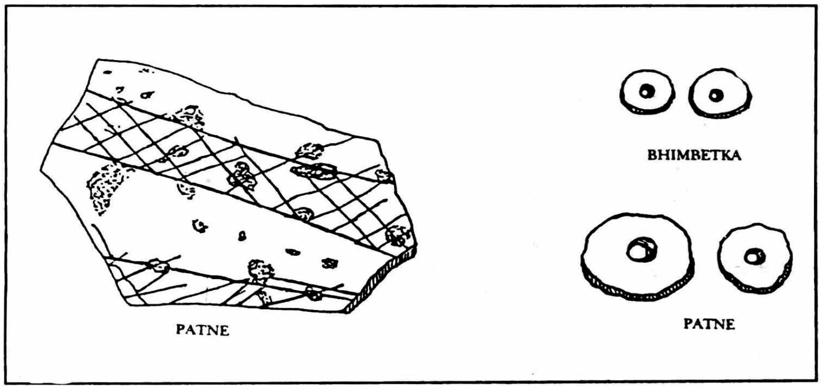

चित्र 1 - 25,000 वर्ष प्राचीन शतुर्मुर्ग के अण्डशल्क पर बने उत्कीर्ण डिजाइन (बायें) पाटणे, महाराष्ट्र; एवं मणियों (दायें) भीमबेटका (मध्यप्रदेश) एवं पाटणे ।

द्वितीय युग :- इन चित्रों में हम पाते हैं कुक्कुदीय वृषभ (हम्पड केटल) का प्रादुर्भाव, पशुपालन के दृश्य, रथ, परशु हाथ में लिये रथी और पशुपालन के चित्र /,ये चित्र सामान्यतः शान्त सुरक्षित जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं, और ताम्राश्म काल से संबंधित हैं । ये सामान्यत: आकार में अपेक्षाकृत छोटे हैं और रंग से भरे हैं । चित्रों का अधिकाधिक मूर्त होना, नूतन मोटिफ्स तथा प्रतीकों का उद्भव इस काल के चित्रों की अन्य विशेषतायें हैं ।

तृतीय युग :- प्राकुमौर्य एवं मौर्यकाल से होता है अभिलेखों, स्तूपों एवं ढाल-तलवारधारी योद्धाओं का आगमन । इस युग के शैलचित्र शनै: -शनै: जड़ता की ओर अग्रसर होने लगते हैं । इस समय मानव सामान्यत: शैलाश्रयों की दुनिया को लगभग छोड़ने की तैयारी में था । अत: इसी समय जन जाति व लोक कला की नवीन परम्परा विकसित होने लगती हैं ।

6.6 शैलचित्र परम्परा

इस प्रकार भारत में शैलचित्र परम्परा का अंकुर साधारण कप मार्क्स एवं खुदी हुई रेखाओं के रूप में प्लाइस्टोसीन युग में प्रस्फुटित हुआ । अश्युलियन संस्कृति के उन्नायक होमोइटेक्टस (प्रारम्भिक मानव) इनके रचयिता थे । धीरे- धीरे उसने कपमार्क्स को एक विन्यास में जमाने का प्रयास किया। ऐसे प्रमाण हमें चम्बल घाटी में दरकी-चट्टान गुफा में मिले हैं । सम्भवत: पुरामध्याश्म काल में वह इन्हें रेखाओं के रूप में व्यवस्थित कर सका । इस काल के रेखाओं में बने कपमार्क्स इन्द्रगढ़ व कन्यादह से मिले हैं । कालान्तर में उसने कपमार्क्स को अण्डाकार एवं वलयकार रूप में सजाया और उसमें कपमार्क्स की दो रेखाओं से धनाकृति की रचना भी की । ऐसे चित्र चट्टानेश्वर, कोटा से मिले हैं । खोदकर एक वृत्त, उससे निकली हुई दो फैली हुई रेखाओं और उनके पास बने दोकपमार्क्स की कलाकृति रायसेन (विन्ध्यक्षेत्र, भोपाल) में विकसित हुई ।

अल्पना (डिजाइन) संयोजन का विकास उत्तर पुराश्म काल में हुआ । पाटणे (महाराष्ट्र) में पुरास्थल के उत्खनन से उत्तर पुराश्मीय स्तर से शतुर्मुर्ग के अण्डशल्क पर बनी मणियाँ एवं उत्कीर्ण डिजाइन मिली है । यह डिजाइन दो आड़ी रेखाओं के बीच तिरछी रेखाओं को आपस में क्रिस-क्रॉस के रूप में काटकर बनी है । रेडियो कार्बन (^{14}C) तिथि निर्धारण विधि से इनका काल 25000 वर्ष पूर्व आका गया है । शुतुर्मुर्ग के अण्डशल्क पर बनी मणियाँ उत्तर पुराश्मीय स्तर से भीमबेटका (मध्य प्रदेश)

उत्खनन से भी मिली है । हाल ही में (1996) खापरखेड़ा के समीप नर्मदा घाटी में हुए उत्खनन में तो शतुर्मुर्ग की मणियाँ बनाने का उत्तरपुराश्म कालीन उद्योग स्थल ही खोज लिया गया है ।

उत्तरपुराश्म कालीन मानव ने जब अपनी भावनाओं एवं कल्पनाओं को शैलाश्रयों एवं कंदराओं की दीवारों एवं छतों पर अभिव्यक्त करने के लिये रंगों का उपयोग प्रारम्भ किया तो जैसे उसकी सृजनात्मक क्षमतायें परवान चढ़ने लगी । इन सृजनात्मक गतिविधियों का प्रारम्भ हुआ जटिल अल्पना चित्रण से जो शैलचित्रों में सबसे निचले स्तरों में मिलते हैं । इनमें भी उसने कई प्रयोग किये, कई नवीन मोटिफ्स विकसित किये और आकृतियों को बनाने का प्रयास किया । फिर प्रारम्भ हुआ पशु व मानवाकृतियों का रचना संसार । पशुओं की आकृतियाँ सहज थी अतः उन्हें उसने प्राकृतिक रूप में बनाया । इन्हें हम अर्द्धअमूर्त चित्र कह सकते हैं । ये सपाट है, इसमें मांसलता नहीं है और न ही आँखें हैं । इनके विपरीत मानव को रेखाओं के माध्यम से अमूर्त रूप में प्रस्तुत किया । किन्तु इन अमूर्त नर्तकों की ऊर्जा, गति और चपलता अत्यधिक प्रभावशाली है ।

माध्याश्म काल तो जैसे शैलचित्र कला का स्वर्णयुग ही है । इस काल में उसने कलात्मक प्रयोगों और प्रदर्शित विषय वस्तु की जैसे कोई सीमा ही नहीं रही । उसने अपने परिवेश, ब्रह्माण्ड और जीवन के अनुभवों अपनी भावनाओं और कल्पनाओं को विभिन्न रूपों और विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया ।

पशुपालन रख कृषि युग में उसके बौद्धिक, तकनीकी, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ विषय वस्तु और शैलियों में भी परिवर्तन होते गये । कालान्तर में मानव शैलाश्रयों को छोड़ मैदानों की ओर जाने लगा तो उसने जनजाति एवं लोककला को विकसित किया । तदन्तर भारतीय क्लासिकल कला तथा आधुनिक कला को भी समृद्ध किया और शैलचित्र परम्परा शनैः-शनैः लुप्त हो गई । भारतीय शैलचित्र कला के विकास की परम्परा एशियाई एवं अफ्रीकी देशों एवं आस्ट्रेलिया से मिले कला के प्रारम्भिक प्रमाणों की प्रवृत्ति से साम्य रखती है ।

6.7 क्षेत्रीय विशेषतायें

भारतीय उपमहाद्वीप में भौगोलिक एवं जलवायु की विभिन्नता का प्रभाव मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ उसकी सृजनात्मक गतिविधियों पर भी पड़ा । शैलचित्रों में भी हम इस प्रभाव को देख सकते हैं ।

6.7.1 पूर्वी क्षेत्र

उड़ीसा में शैलचित्र सामान्यतः लाल एवं गेरूआ रंग में पाये जाते हैं । कभी-कभी लाल व गेरूए रंग के साथ पीला, बैंगनी के साथ सफेद तथा नीले और काले रंगों का भी प्रयोग किया गया है ।

यहां के अधिकांशतः चित्र ज्यामितीय एवं अज्यामितीय रूपों में मिलते हैं जो सामान्यतः एक के ऊपर एक बनाये गये हैं । फलस्वरूप शैलचित्र अव्यवस्थित एवं आपस में गुंथे हुए दिखते हैं । ऐसे ही चित्र बिहार के हजारीबाग जिले में स्थिति कहोवर शैलाश्रय में भी मिलते हैं । यहां से प्राप्त कुछ चिह्न हड़प्पीय लिपि से भी मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं ।

उड़ीसा के प्राचीनतम चित्र जटिल अल्पनाओं के रूप में मिलते हैं जो पेटिना की पतली पर्त से ढके हैं । मानिकामोड़ा एवं लेखामोड़ा के शैलाश्रयों में इन अल्पनाओं के ऊपर सफेद रंग से चित्र बने हैं । उत्कीर्ण चित्रण उड़ीसा के शैलचित्रों की प्रमुख विशेषताओं में से एक हैं, किन्तु इनमें मानव चित्र

अनुपस्थित है । योनि चित्रण लगभग सभी उत्कीर्ण एवं रंग से बने चित्र एक दूसरे के पूरक लगते हैं। शिकार एवं कंद, मूल व फल संग्रह तथा रथों एवं गाड़ियों के चित्र उड़ीसा के शैलचित्रों में नहीं मिलते।

6.7.2 हिमालय क्षेत्र

उत्तराखण्ड में स्थित शिमला, पौड़ीगढ़वाल आदि क्षेत्रों में अधिकांशत: चित्र पशु पालन एवं इससे सम्बन्धित मानव जन-जीवन को प्रकट करते हैं । ये चित्र सामान्यत: चट्टान की सतह पर खोद-खरोंच कर बनाये गये हैं किन्तु कुछ चित्र रंग से बने भी मिलते हैं। हिमालय की नम जलवायु में रंग से बने चित्रों का सुरक्षित बचे रहना सुखद आश्चर्य है । लद्दाख़ क्षेत्र में लगभग सभी चित्र चट्टानों पर खोद- खरोंच कर अथवा उत्कीर्ण कर बनाये गये हैं । पशुपालन जीवन का चित्रण इनकी प्रमुख विषयवस्तु है।

6.7.3 दक्षिणी क्षेत्र

कर्नाटक के चित्रित शैलाश्रयों एवं शिलाखण्डों का विस्तृत अध्ययन ए. सुन्दरा ने किया है । भारत का यह भूभाग ग्रेनाइट एवं बलुआ पत्थर की चट्टानों का क्षेत्र है । यहां समुद्र तटीय क्षेत्रों मं उत्कीर्ण चित्र मिलते हैं एवं भीतरी क्षेत्रों में रंग से बने चित्र पाये जाते हैं । कम- ज्यादा यही स्थिति आन्ध्रप्रदेश, केरल व तमिलनाडु की भी है ।

सामान्यत: दक्षिण भारतीय शैलचित्रों के विकास का चरित्र भी आम भारतीय शैलचित्रों जैसा ही है । यहां भी प्रारम्भिक चित्र जटिल अल्पनाओं, सजीव पशु एवं अंशत: अमूर्त खाद्य संग्राहक-शिकारी मानव एवं उसकी गतिविधियों को दर्शाते हैं । किन्तु, विन्ध्यक्षेत्र के शैलचित्रों की तरह इनकी कथा वस्तु में विविधता नहीं है । यहां नवाश्मीय चित्रों में अमूर्तता अधिक झलकने लगती है । आन्ध्रप्रदेश के शैलचित्रों में त्रिशूल और वृत्त के संयोग से बना प्रतीक चिह्न विकसित होकर धीरे- धीरे नये-नये रूप अर्जित करने लगता है । धीरे- धीरे चित्रों को खोद-खरोंच कर एवं उत्कीर्ण कर बनाने की विधा अत्यधिक प्रबल हो जाती है । इन चित्रों में मेगालिथिक एवं इतिहास कालीन जीवन के विविध रूप चित्रित हैं ।

6.7.4 विन्ध्य क्षेत्र

विन्ध्य क्षेत्र भारतीय चित्रित शैलाश्रयों का अत्यधिक सम्पन्न क्षेत्र है । इस क्षेत्र के चित्र विषय और शैलीकी विविधता, उनके विविध आयामों एवं भाव-प्रवणता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और विश्व में बेजोड़ हैं । चम्बल घाटी (मध्य प्रदेश) एवं उत्तरी विन्ध्य क्षेत्र (मिर्जापुर जिला, उत्तर प्रदेश) के शैलचित्रों में भी ऐसी ही विलक्षणता पाई जाती है, किन्तु यहां मध्य प्रदेश के विन्ध्य क्षेत्र जैसी विषय की विविधता नहीं है ।

इस क्षेत्र में भोपाल, रायसेन, जावरा-मल्खार, बुदनी, गुफामासेर, सांची आदि प्रमुख शैलचित्र क्षेत्र हैं, किन्तु ओबेदुल्लागंज भोपाल के पास स्थित भीमबेटका शैलाश्रय समूह विश्व में अपनी तरह का अकेला ही उदाहरण है । अश्मयुगीन मानव के निरन्तर विकास क साक्ष्य प्रस्तुत करने वाला यह क्षेत्र अपनी प्रागैतिहासिक कला वीथिकाओं के लिये विश्व में प्रसिद्ध है और भारतीय प्रागैतिहासिक कला का पर्याय बन गया है । भीमबेटका के चित्रित शैलाश्रयों की खोज प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एवं कला मनीषि वि. श्री. वाकणकर ने 1957 में की थी । भीमबेटका को शीघ्र ही यूनेस्को द्वारा विश्व विरासत का सम्मान दिया जा रहा है ।

भीमबेटका क्षेत्र के प्रारम्भिक चित्रों में तो हमें जटिल अल्पना चित्र, नृत्य एवं शिकार के अत्यधिक ऊर्जावान चित्र ही अधिक मिलते हैं । किन्तु मध्याश्मीय चित्र तत्कालीन जीवन, परिवेश, संस्कृति, विचार, जीवन दर्शन और मानवीय भावनाओं का विविध आयामी जीता जागता संसार प्रस्तुत करते हैं । देखिये चित्र संख्या 2, 3 ।

चित्र 2 - हरे रंग में चित्रित नृत्य दृश्य, द्रुत गति एवं मस्ती का भाव/उत्तर पुराश्मीय (?)। भीमबेटका, मध्यप्रदेश ।

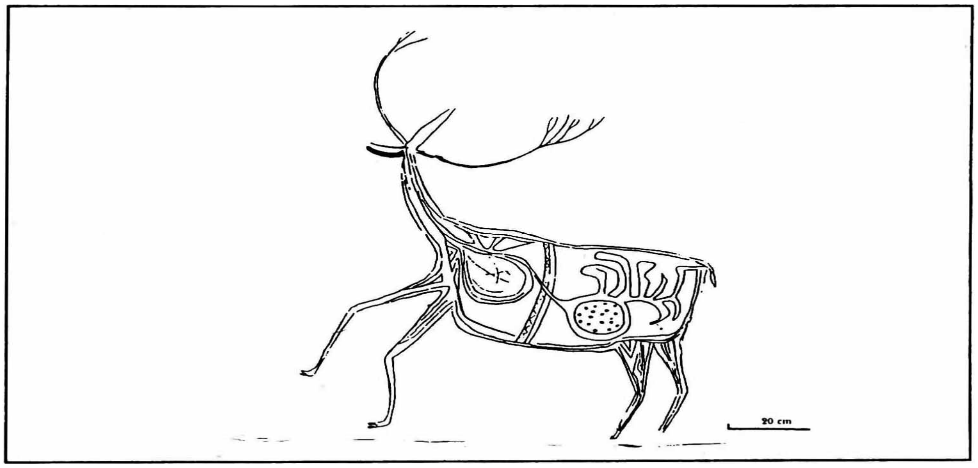

चित्र 3 - 'एक्स रे' शैली में चित्रित हिरन । मध्याश्मीय । कठोटिया, विंध्य क्षेत्र।

मध्याश्म काल में मानसून जलवायु प्रारम्भ हो गया था । चारों ओर हरियाली और जंगल विकसित होने लगे थे । प्राणियों एवं मानव के लिये कैद, मूल, फल व विभिन्न वनस्पतियों के रूप में पर्याप्त भोजन उपलब्ध था, जिसे आसानी से प्राप्त किया जा सकता था । फलस्वरूप जीवन संघर्ष अपेक्षाकृत सरल हो गया । अतः सृजनात्मक गतिविधियों के लिये मानव के पास पर्याप्त समय था और वातावरण भी अनुकूल था । फलस्वरूप सृजनात्मक-सांस्कृतिक गतिविधियों में वृद्धि होती गई और विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान विकसित होने लगे । इन सबकी झलक हमें शैलचित्रों में निम्न वर्णित रूपों में दिखलाई देती है ।

अलंकरण एवं जादू-टोनों के लिये विभिन्न प्रकार के मुखौटे एवं शिरोभूषण बनाये गये । बैल, हिरन, गैण्डा, बन्दर आदि पशुओं के मुखौटे बनाये गये या फिर उनकी खोपड़ियों को ही मुखौटों के रूप में उपयोग किया गया ।

शिरोभूषणों को अलंकृत करने के लिये विभिन्न पक्षियों के पंखों का उपयोग किया गया । कोहनी के पास से झूलती डोरियों की लटकन एवं बालू बंध लोकप्रिय हो गये । पक्षियों की अलंकृत अस्थियों तथा अस्थि-मनकों से बने सीने पर लटकते हार शैलचित्रों में रुचि पूर्वक बनाये गये हैं । रीड तथा अन्य वस्तुओं से बने कण्ठहार भी शैलचित्रों में अक्सर देखे जाते हैं ।

मध्याश्मीय मानव ने रस्सी और टोकरियाँ बनाने की विधा विकसित कर ली थी । रीड तथा खजूर की पत्तियों को बुनने की कला का विकास भी हो गया था । पशुओं की खाल को वस्त्रों के रूप में उपयोग किया जाता था । बुने हुए वस्त्रों का भी प्रचलन था जो खजूर की पत्तियों, रेशे वाली छाल से बनी सुतलियों आदि से बनाये जाते थे । पुरुष सामान्यतः लंगोटी पहनते थे । महिलायें कमरबंद भी बांधती थी । नृत्य में पुरुषों के वस्त्र विविध प्रकार के होते थे । भीमबेटका के मध्याश्मीय नटराज की वेशभूषा एवं अलंकरण देखते ही बनते हैं । चतुर्भुजनाथ नाला में तीन धनुर्धारियों की लँगोटियों के लम्बे पल्ले हवा में लहराते चित्रित किये गये हैं ।

सामूहिक नृत्यों में साधारण लंगोटी से काम चल जाता था । किन्तु उत्सव-नृत्यों के लिये शिरोभूषण, मुखौटे, लहंगे आदि आवश्यक थे । शिकार के समय किये जाने वाले नृत्य में एक ओझा नेतृत्व करता था । वह सुसज्जित परिधान पहनता था तथा उसके हाथ में वर्गाकार अथवा आयताकार ढाल होती थी जो शायद स्वयं की रक्षा के लिये अथवा शिकार किये जाने वाले पशु को आकर्षित (enrange) करने के लिये होती थी ।

पशुओं को फाँसने के लिये बाँस और रस्से से बने कटघरे (traps), बाँस की पत्तियों से बंधी आड़ी-तिरछी महीन रस्सियों के जाल बनाये जाते थे जो वर्गाकार आयताकार अथवा कोणीय आकार के होते थे । मार्ग को ऊबड़-खाबड़ बनाकर और बाँस के नुकीले टुकड़ों को तिरछा गाड़कर भी पशुओं को फंसाने के लिये कटघरे बनाये जाते थे ।

कई तीखे लघु अश्मोपकरणों के जालयुक्त भाले, पैनी हड्डी से बने अग्रभाग वाले तीर, हड्डी के हारपून, पैने पत्थर के अग्रभाग वाले भाले और तीर शिकार करने के लिए उपयोग किये जाने वाले सामान्य उपकरण थे । रस्सी के एक सिरे पर गोल पत्थर बांधकर बनाये गये बोला से फंसाये हुए जानवर को घेरना, कुत्तों की सहायता लेना, कूदकर जानवर की पीठ में भाला भोंकना आदि शिकार करने के सामान्य तरीके थे ।

भालों को सामान्यत: दोनों हाथों से और कभी-कभी स्व हाथ से भी फेंका जाता था । कभी-कभी हल्के भालों को फेंकने के लिये उपकरण का भी उपयोग किया जाता था । पैने किये हुए बाँस के भाले अत्यधिक लोकप्रिय थे ।

विभिन्न प्रकार के शिकार के समय उपयोग होने वाले भाले अग्र, मध्य एवं पृष्ठ भाग में उत्कीर्ण चित्रों से सजे होते थे। ट्रांजिओलट, ट्रायएन्गल, लयूनेट आदि लघु अश्मोपकरणो एवं बोन पॉइन्टस से बने फाल वाले तीर और हिंगोट का उपयोग किया जाता था । धनुष भी विभिन्न प्रकार के होते थे यथा-आर्चोयड, ट्रेपिजोयड, अर्द्धचन्द्राकार आदि । इनकी लम्बाई सामान्यत: मानव के बराबर होती थी ।

उत्सव के समय धनुष एवं बाणों को अक्सर अलंकृत किया जाता था । शिकार सामान्यत: पुरुष वर्ग करता था । परिवार/समूह का भरण-पोषण महिलायें करती थी । अत: महिलाओं के इस महत्वपूर्ण योगदान के कारण उन्हें मातृदेवी के रूप में सम्मान देने एवं पूजा करने की परम्परा विकसित हुई । जावरा-मन्धार की वात्सल्य की देवी (मिल्किंग मदरगोडेस), चतुर्भुजनाथ नाला की प्रजनन एवं शिशु रक्षा की देवी एवं नृत्य मातृका के चित्र इसके ठोस प्रमाण हैं । मध्याश्मीय कला में कामक्रीड़ा के चित्र भी हैं किन्तु बहुत कम् और वे भी दैनिक जीवन की एक सामान्य गति विधि के रूप में बनाये गये हैं । कभी-कभी गर्भवती महिला, प्रजनन एवं शिशु के साथ माता के चित्र भी मिलते हैं ।

महिलाओं को भारवाहक के रूप में भी बतलाया गया है । शैलचित्रों में अक्सर वे अपनी पीठ पर टोकरी लिये दिखलाई गयी है । जैसा कि महिलायें चाय-बागानों में करती हैं । ये टोकरियाँ वृत्ताकार, शंक्वाकार, आयताकार, कभी-कभी घनाकार, ऊपर से चौड़ी व नीचे से सँकरी आदि आकृतियों में बनाई गई हैं । वे विभिन्न प्रकार से बनी होती थीं । उन्हें सुन्दर रूप देने के लिये बुनी जाने वाली पट्टियों को रंग लिया जाता था । चलते समय महिलायें टोकरी की पट्टी को सिर के ऊपर, अथवा कान के पास या कंधों के पास से पकड़ लेती थी । टोकरियों में बच्चे, छोटे जानवर और खाद्य सामग्री ले जाते हुए दिखलाया गया है । इनमें फलों का संग्रह भी किया जाता था । मध्याश्मीय चित्रों में मानव समूह का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर परिगमन भी शैलचित्रों में बना है जिसमें वे सामान को सिर पर व टोकरियों में रखकर ले जा रहे हैं ।

शैलचित्रों में खाद्य सामग्री एकत्रित करने की विधा भी चित्रित है । उनका मुख्य भोजन फल, प्याज एवं मधु था । मांसाहार भी मध्याश्मीय जीवन का अंग था, किन्तु पुरातात्विक उत्खनन में मध्याश्मीय स्तरों से इतनी कम हड्डियाँ मिली हैं कि लगता है मांसाहार विशिष्ट अवसरों पर विशिष्ट भोजन के रूप में किया जाता था । मछली, कछुआ, हिरन, नीलगाय, वनवृषभ, जंगली सूअर, गैंडा आदि के शिकार दृश्य सामान्यत: मिलते हैं । इन पशुओं का मांस इन्हें पसन्द था, इनमें भी सुअर, हिरन और वनवृषभ का मांस अत्यधिक प्रिय था । हाथी के शिकार के दृश्य संभवत: नहीं हैं । पक्षियों में मयूर का मांस अति प्रिय था । सेही (परक्यूपाइन) का भी उपयोग कर लिया जाता था । सुरा के उपयोग के बारे में कोई जानकारी नहीं है किन्तु तुंबों को पानी के पात्रों के रूप में उपयोग किया जाता था और मधु ऊर्जा का प्रमुख स्रोत था ।

नृत्य

अनुष्ठानिक नृत्यों में अग्नि के चारों ओर 10, 20, 30 की पंक्तियों में नृत्य सामान्यत: मिलते हैं । नृत्य उत्कृष्ट कला के रूप में विकसित हो चुके थे । ताल और लय पर पैरों को एक साथ आगे-

पीछे रखना, पैरों के पास ताली, सिर के ऊपर, पैर उठाकर घुटने के नीचे ताली, केन्द्र में स्थिति नेता की ताली की ताल पर नृत्य, अति सुसज्जित शिरोभूषण, मुखौटा एवं परिधान पहन एकल नृत्य, सींग के शिरोभूषण पहनकर चेहरा एवं शरीर ढक कर एवं हाथ में डंडे लेकर नृत्य तथा सींग- वाद्ययन्त्र एवं प्रस्तर ढोल की ताल पर नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय था ।

मरीज का इलाज करने के लिये झाड़ा-फूंकी के चित्र एवं एक व्यक्ति की मृत्यु पर अंतिम संस्कार के समय शोकाकुल व्यक्तियों के चित्र बहुत प्रभावी हैं ।

मध्याश्मीय चित्रों में चित्रित विषयों का सन्तुलन एवं तालमेल पूरे पैनल को निरन्तरता प्रदान करता है । अत: ये चित्र ऊर्जावान एवं प्रभावी लगते हैं ।

6.7.5 चम्बल घाटी एवं अरावली क्षेत्र

राजस्थान में चित्रित शैलाश्रयों की खोज स्वर्गीय वि. श्री वाकणकर ने 1955 में की थी । तब उन्होंने अधरशिला-कोटा, दर्रा तथा हरिशचन्द्र बांध के चित्रित शैलाश्रयों को देखा था । तब से अब तक राजस्थान एवं उससे जुड़े मध्य प्रदेश के मन्दसौर जिले तथा उत्तर प्रदेश के आगरा जिले के सीकरी क्षेत्र में चम्बल एवं उसकी सहायक नदियों की उपत्यकाओं (घाटियों) और अरावली पर्वत श्रृंखलाओं में एक हजार से भी अधिक चित्रित शैलाश्रय खोजे जा चुके हैं जो 27 क्षेत्रों में 170 शैलाश्रय परिसरों में फैले हुए हैं । अधिकांशत शैलाश्रय सैण्डस्टोन क्षेत्र में कोटा, बारा, भीलवाड़ा, चित्तौड़ व मन्दसौर जिले में और मरूभूमि की सैण्डस्टोनी पहाड़ियों में जोधपुर तथा बाड़मेर जिले में मिले हैं । अरावली के ग्रेनाइटी क्षेत्र में चित्रित शैलाश्रय जयपुर, सीकर व पाली जिले में मिले हैं । आबू में चन्द्रावती से उत्कीर्ण डिजायन सहित चार्ट पर बना मध्याश्मीय फ्लयूटेड कोर भी मिला है । सेंडस्टोन क्षेत्र में अधिकांशत: चित्र खनिज रंगों से बने हैं । थोड़े ही चित्र चट्टान की सतह को खोदकर या खुरचकर बनाये गये हैं । ग्रेनाइट क्षेत्र में दोनों विधाओं से बने चित्र पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं ।

प्रमुख विशेषतायें

भारतीय शैलचित्रों की तरह राजस्थान के शैलचित्रों को भी तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है । किन्तु यहां के चित्रों की कुछ अपनी विशेषतायें है और मानव के बौद्धिक-सांस्कृतिक विकास को समझने में अपना महत्वपूर्ण योगदान करते हैं । कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

दक्षिण-पूर्वी राजस्थान, इससे लगे भानपुरा क्षेत्र एवं उत्तरपूर्वी राजस्थान में कन्यादह (पार्वती घाटी), दरकी चट्टान (चम्बल घाटी), बाजणीभाट व बैराट (उत्तरपूर्वी अरावली श्रृंखला) से गुफाओं (दरकी चट्टान), शैलाश्रय की दीवारों (बाजणीभाट) एवं तलों (कन्यादह) से कपमार्क्स और खुदी हुई रेखायें मिली हैं । इन खुदे हुए चित्रों को पैटोग्लिफ्स कहते हैं । इनमें न तो कोई आकृति है और न ही कोई संयोजन । अत: ये शैलचित्रों की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं । इस श्रेणी के पैटोग्लिफ्स मध्यप्रदेश में आाईरयम रॉक-भीमबेटका तथा रायसेन से भी मिले हैं । इन शैलचित्र स्थलों के आस-पास पूर्व पुराश्मीय अश्युली उपकरण व मध्यपुराश्मीय स्क्रेपर्स मिले हैं । दरकी चट्टान गुफा में जहां लगभग 500 कपमार्क्स खुदे हैं इनके अतिरिक्त अन्य किसी परम्परा के उपकरण नहीं मिलते । अत: लगता है इन पैटोग्लिफ्स के रचनाकारों एवं पूर्व पुराश्मीय तथा मध्यपुराश्मीय अश्मोपकरणों के बनाने वालों में कोई सम्बन्ध अवश्य रहा है । इस आधार पर इन चित्रों का रचना काल दो-ढाई लाख वर्ष पूर्व से चालीस हजार वर्ष पूर्व कहीं भी हो सकता है ।

चम्बल एवं पार्वती घाटी तथा अरावली श्रृंखला में पाये जाने वले खनिज रंगों से बने चित्रों में जटिल अल्पनायें (इन्ट्रनग्रेटेड डिजाइन्स), अपने स्वाभाविक रूप में पशु रख धनुर्धर जीवन्त तथा क्रियाशील लगते हैं । मध्यप्रदेश व उत्तर प्रदेश की विन्ध्य श्रृंखलाओं में अश्मयुगीन चित्रों में नृत्य एवं शिकार के दृश्यों की बहुलता है । किन्तु आलोच्य क्षेत्र में वास्तविक शिकार के दृश्य बहुत ही कम हैं ऊर्जावान एवं क्रियाशील धनुर्धारियों के समूह का चित्रण चम्बल घाटी के शैलचित्रों की विशेषता है । चिब्बड़नाला में शेर से सामना करते हुए शिकारियों का प्रभावी चित्रण है । चित्र में एक शेर ने एक शिकारी पर आक्रमण कर उसका एक हाथ मुंह में चबा लिया है, किन्तु उसका साथी शिकारी डर कर भागा नहीं, वरन अपने साथी को बचाने के लिये उसने शेर पर बाण चला दिया है उसके सिर में घुस गया है।

चतुर्भुजनाथ नाले में एक हथिनी और उसका बच्चा द्रुत गति से बढ़ते हुए एक शिकारी के पीछे पड़ गये हैं । आक्रमण की मुद्रा में हथिनी की सूंड आगे की ओर फैल गयी है और शिकारी अपनी जान बचाने के लिए हाथ में धनुष- बाण लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भागा जा रहा है । डीकेन-निम्बाहेड़ा क्षेत्र में एक गौर (जंगली बैल) ने एक शिकारी को हवा में उछाल दिया है ।

रक्षा एवं प्रजनन की देवियों के चित्र चतुर्भुजनाथ नाले का विशेष आकर्षण है । किन्तु कोटा जिले में अलनिया नदी में चट्टानेश्वर के समीप एक छोटे से शैलाश्रय में बना अनुष्ठानिक नृत्य दृश्य भारतीय मध्याश्मीय चित्रों में अनूठा है और अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के संस्कार बच्चों में डालने का सुन्दर उदाहरण है । गोपीचन्द का छाजा भीलवाड़ा जिले में बना मध्याश्मीय वृहत्ताकार नीलगाय का चित्र सजीव लगता है । यहा अन्य चौपायों के चित्र मध्याश्मीय अलंकरणों के साथ चित्रित हैं । पाली जिले के जवाईबांध क्षेत्र में स्थित एक शैलाश्रय में चित्रित जंगली सुअर के शिकार का दृश्य इस क्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ एवं प्रभावी चित्र है । चिब्बड़नाला (मन्दसौर- चित्तौड़) के एक शैलाश्रय में वन वृषभों के एक समूह को 7-8 शिकारियों ने घेर लिया है, और एक गर्भिणी गाय ने अपने बचाव के अन्तिम प्रयास में शिकारी पर ही आक्रमण कर दिया है । मानव के कन्दमूल-फल संग्राहक एवं शिकारी से पशुपालन व कृषिकार बनने की प्रक्रिया के सशक्त प्रमाण हमें चम्बल घाटी के शैलचित्रों में मिलते हैं, जबकि पुरातात्विक साक्ष्यों में ऐसे प्रमाण नहीं मिलते ।

(देखिये चित्र संख्या 4 व 5)

चित्र 4 - मध्याश्मीय पशु एवं अल्पना चित्र लाल रंग ।
गोपीचन्द का छाजा समूह, जिला भीलवाडा ।

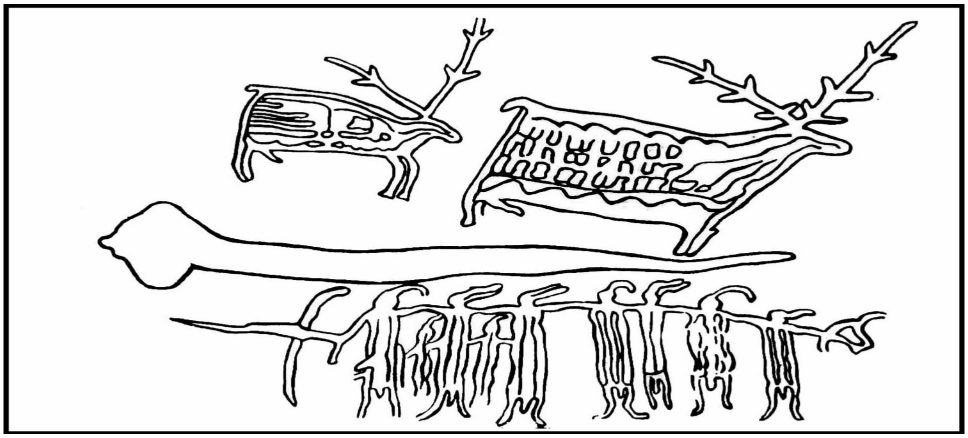

चित्र 5 - अनुष्ठानिक नृत्य उत्तर मध्याश्मीय चट्टानेश्वर, अलनिया, चम्बल घाटी ।

चट्टानेश्वर, कपिलधारा व पीरभेड़ा में शिकारी कुक्कुदविहीन वृषभों (नर-मादा?) को पकड़ रहे हैं । इन चित्रों में पशुओं एवं शिकारियों के चित्रों में मध्याश्मीय और ताम्रश्मीय दोनों कालों की विशेषतायें हैं । कुक्कुदीय वृषभ (हम्पड्र केटल) के आगमन के बाद तो जैसे पशुपालन विधा में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया । इसके बाद पशुपालन एवं तत्सम्बन्धी जीवन का चित्रण कलाकार का प्रिय विषय बन गया । पशुपालन एवं इस जीवन की गतिविधियों के अनेक रूप, अनुष्ठान चित्र एवं प्रतीकों का चित्रण लगभग सभी शैलचित्र स्थलों पर हुआ है । किन्तु वारां जिले में कन्यादह, कपिलधारा व भानपुरा-गांधी सागर क्षेत्र में चतुर्भुजनाथ नाला, मोड़ी, चिब्बड़नाला, डाकनबरडी, डीकेन-रतनगढ़ क्षेत्र एवं पाली जिले के देसुरी-नालाई के शैलचित्रों में इस जीवन का विशेष चित्रण हुआ हैं । भार ढोने की तकनीकी में हुए विकास का सुन्दर चित्रण चतुर्भुजनाथ नाला एवं चिब्बड़नाला के शैलाश्रयों में हुआ है । यहां मध्याश्मीय चित्रों में मानव सामान को अपनी पीठ पर रखकर ले जा रहा है । प्रारम्भिक ताम्रश्मीय चित्रों में उसने कावड़ का आविष्कार कर लिया । लाठी को कंधे पर रखकर भी वह सामान ले जा रहा है और फिर उसने गाड़ी एवं रथों का आविष्कार किया । कन्यादह के एक शैलाश्रय में एक रथ में चार घोड़े व दूसरे में छः जानवर जुते हुए दिखाये गये हैं किन्तु इनमें सवार नहीं हैं । इसके बाद के चित्रों में चतुर्भुजनाथ नाला एवं कन्यादह के अन्य शैलाश्रयों में बने रथों में परशु लिये हुए रथी एवं सारथी भी दिखलाये गये हैं । **देखिये चित्र संख्या 6 ।**

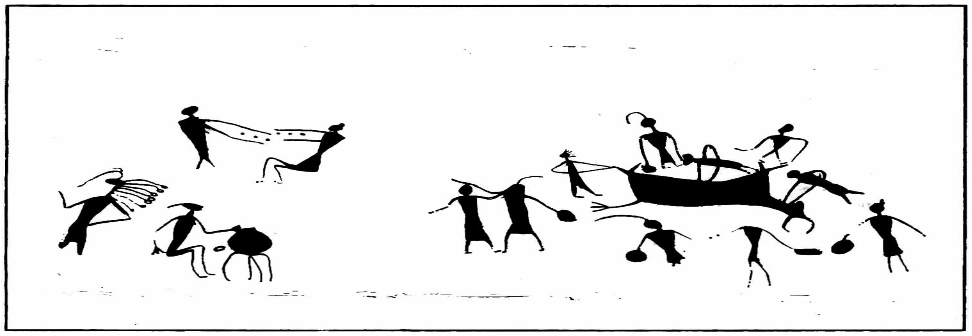

चित्र 6 - शिकार को मारकर दावत का आनन्द ।

ताम्रश्मीय, चिब्बड़ नाला, चम्बल घाटी ।

रथों के आविष्कार से पहले मानव ने पशुओं को सवारी के काम में लिया। उसने कुक्कुदविहीन वृषभों से पशु सवारी का प्रारम्भ किया, फिर कुक्कुदीय वृषभों की सवारी की। वृषभ उसका सबसे प्रिय पालतू पशु था। सम्भवत: इसलिये ताम्रश्मीय मानव ने अपने आराध्य देव पशुपति-शिव को वाहन के रूप में नन्दी दिया।

शैलचित्रों के विकास के अगले चरण में अभिलेखीय प्रमाण एवं इनके साथ बौद्ध प्रतीकों का मिलना महत्वपूर्ण घटना है। अशोकीय एवं प्राक्मौर्य कालीन ब्राह्मी लिपि में लाल रंग से लिखे अभिलेख राजस्थान में कन्यादह (बारां), कालाजी-की-कुई (दर्रा) एवं मध्यप्रदेश में चिब्बड़नाला (भानपुरा) में मिले हैं। इन अभिलेखों के साथ चित्रित हैं धर्मचक्र, पत्तों सहित दो कलश एवं हाथी (कालाजी-की-कुई) तथा धर्मचक्र, बोधिवृक्ष और स्वस्ति चिन्ह (चिब्बड़नाला)। **देखिये चित्र सं. 9 10।**

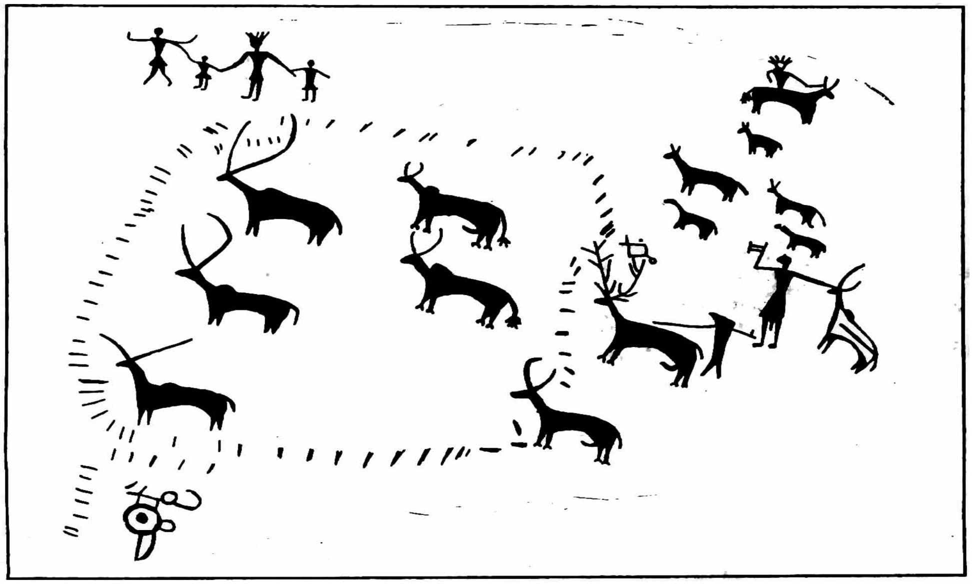

चित्र 7 -

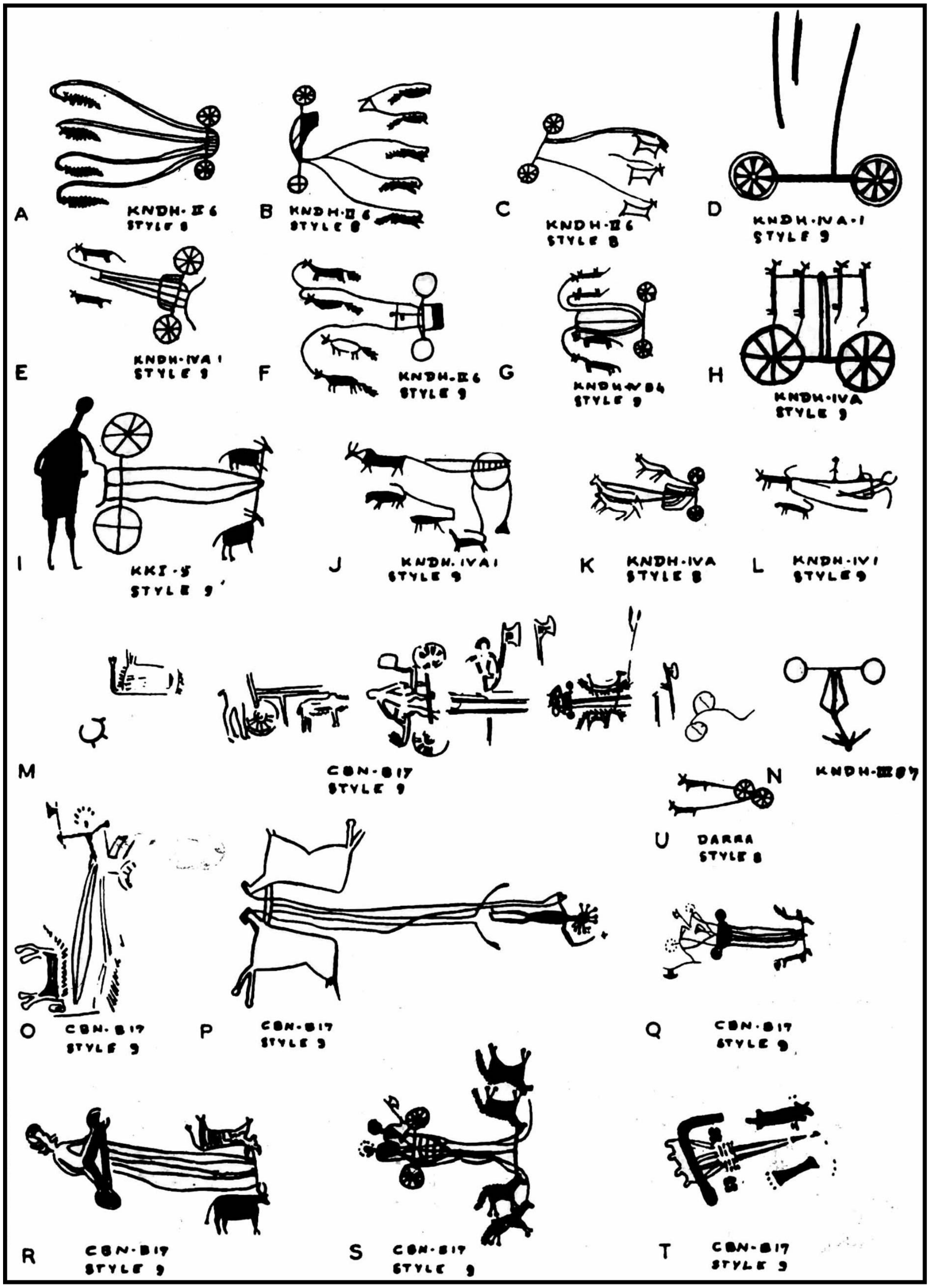

चित्र 8 - रथ एवं गाड़ियाँ ताम्रश्मीय ऐतिहासिक चम्बल उपव्यका ।

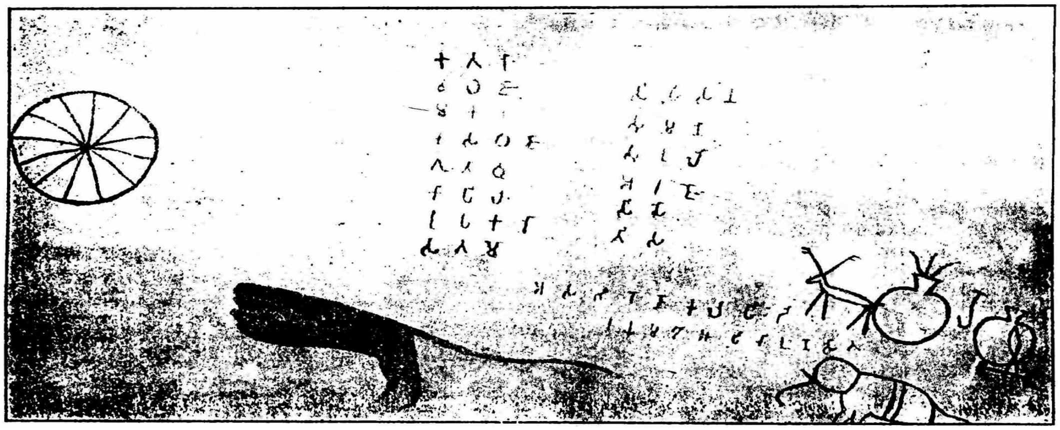

चित्र 9 - लाल रंग से बने चित्र एवं अशोकीय ब्रहमलिपि में लिखे लेख ।
बौद्धा कालाजी की कुई, दर्रा, चम्बल घाटी ।

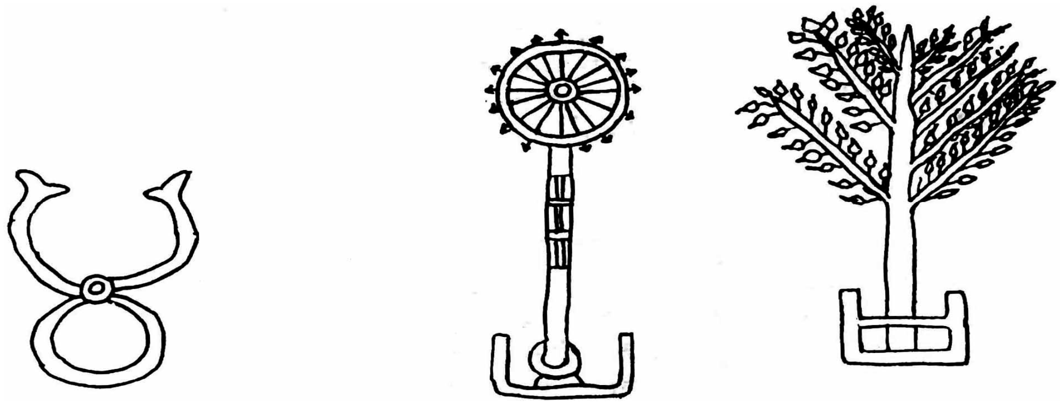

चित्र 10 - चिब्बड़ नाला में बायीं ओर सीधी चट्टान पर लाल रंग से बने बौद्ध प्रतीक ।
धर्म चक्र लगभग 100 से.मी. । भानपुरा क्षेत्र, चम्बल घाटी ।

6.8 सारांश

इस प्रकार जब हम शैलचित्रों के माध्यम से मानव के बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं सृजनात्मक विकास की यात्रा का अध्ययन करते हैं तो हमें इस विकास के विभिन्न पड़ावों में मानव जीवन, उसके परिवेश, उसके सृजन, आविष्कार और उपलब्धियों की रंगीन झांकी दिखलाई देती है । इनमें हम क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ अन्तर्निहित भारतीय सांस्कृतिक धारा का प्रवाह भी देखते हैं जिसके फलस्वरूप ये सभी चित्र भारतीय शैलचित्रों की सामान्य विशेषताओं के वाहक हैं और विश्व में इसी रूप में पहचाने जाते हैं । ये हमारे लिये एवं आने वाली पीढ़ियों के लिये प्रेरणा के अप्रतिम स्रोत हैं ताकि हम अपनी प्रकृति और कूवत को पहचान सकें और अपने देश एवं मानवता के विकास में अपना प्रभावी योगदान के लिये हम मार्ग में आने वाली चुनौतियों का अपनी पूर्ण क्षमता और शक्ति के साथ सामना कर सकें।

भारत उन राष्ट्रों में से एक है जहां प्राचीन काल से शैलचित्रों की परम्परा प्राप्त होती है । भारत में इस कला का उद्भव संभवतः दो लाख वर्ष पूर्व से चालीस हजार वर्ष पूर्व के बीच हो गया था । प्रारम्भ के चित्र प्राकृतिक परिवेश, आखेट व जीवन यापन से जुड़े घटनाक्रम से सम्बन्धित हैं । तत्पश्चात् द्वितीय चरण में पालतू पशु, पशुपालन के दृश्य, रथ आदि के चित्र प्रकट होने लगे । ये चित्र पहले की अपेक्षा अधिक मूर्त रूप में है । वस्तुतः उतर पुराश्म कालीन मानव ने जब अपनी भावनाओं एवं कल्पनाओं को शैलाश्रयों एवं कन्दराओं की दीवारों एवं छतों पर अभिव्यक्त करने के लिये रंगों का उपयोग प्रारम्भ किया तो उनकी सृजनात्मक प्रवृतियां विकसित अवस्था में सामने आने लगी । मध्याश्म काल शैलचित्रों का स्वर्णकाल था । भारत में शैलचित्रों की अपनी क्षेत्रीय विशेषताएं भी हैं । प्रत्येक क्षेत्र की अपनी रूप-रेखा व रंगों की पसन्द है । विन्ध्य व चम्बल घाटी के क्षेत्र तुलनात्मक दृष्टि से अधिक संख्या में हैं व प्रत्येक चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये : -

(1) भारत के सांस्कृतिक विकास में शैलचित्रों का क्या महत्व है?

(2) भारत में शैलचित्रों की खोज करने का श्रेय किन अन्वेषकों को जाता है ।

(3) शैलचित्रों के कालक्रम पर अपने विचार व्यक्त कीजिये ।

(4) क्या माध्याश्म काल शैलचित्र कला का स्वर्णकाल है?

(ब) निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिये : -

(1) शैलचित्र परम्परा पर टिप्पणी लिखिये ।

(2) शैलचित्रों की विभिन्न क्षेत्रीय विशेषताओं (राजस्थान संभाग के अतिरिक्त) को स्पष्ट कीजिये।

(3) राजस्थान में उपलब्ध शैलचित्रों पर एक निबन्ध लिखिये ।

6.10 संदर्भ ग्रन्थ

(1) जगदीश गुप्ता**, प्रागैतिहासिक चित्रकला,** नई दिल्ली, 1967.

(2) बाई. मथपाल**, प्री हिस्टोरिक रॉक पैण्टिगस् ऑफ भीम्बेटका,** नई दिल्ली, 1975.

(3) ई. न्यूमेयर, **लाईन्स ऑन स्टोन, दी प्री हिस्टोरिकल रॉक आर्ट ऑफ इण्डिया,** नई दिल्ली, 1998

(4) बी.एस. वाकनकर रख रॉबर्ट आर.आर. ब्रूक्स, स्टोन ऐज पॉण्टिंगस् ऑफ इण्डिया, बम्बई, 1976.

इकाई 7 प्रागैतिहासिक संस्कृति (सिन्धु-सरस्वती सभ्यता)

इकाई संरचना

7.1 उद्देश्य
7.2 प्रस्तावना
7.3 सभ्यता की उत्पति
7.4 प्रमुख स्थल व विस्तार
7.5 सभ्यता की तिथि
7.6 निर्माता
7.7 विनाश
7.8 नगर योजना एवं स्थापत्य कला
7.9 कला
7.10 सामाजिक जीवन
7.11 आर्थिक जीवन
7.12 धार्मिक विश्वास एवं मान्यताएँ
7.13 राजनैतिक संगठन तथा प्रशासन
7.14 सारांश
7.15 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.16 शब्दावली
7.17 संदर्भ ग्रन्थ

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप -

1. सिन्धु-सरस्वती सभ्यता की उत्पत्ति, विकास, विस्तार का विवरण प्रस्तुत कर सकेंगे ।
2. इस सभ्यता के सर्जनों एवं विनाश के कारणों का अनुमान लगा सकेंगे ।
3. सैंधव सभ्यता की नगर निर्माण एवं स्थापत्य कलाओं का विकास प्रस्तुत कर सकेंगे ।
4. इस काल की कला, सामाजिक जीवन, आर्थिक स्थिति, धार्मिक विश्वासों, राजनैतिक संगठन, प्रशासनिक ढांचे को स्पष्ट कर सकेंगे ।
5. सैंधव सभ्यता नगर योजना, भवन, मुद्रा, भाण्ड्यों, मुद्राओं आदि को रेखाचित्रों में प्रस्तुत कर सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

सुमेरियन, बेबीलोनियन एवं मिश्र की सभ्यता एवं संस्कृति के लगभग समकालीन भारत में सिन्धु नदी की घाटी में शान्त स्वच्छ एवं स्वस्थ संस्कृति अपने यौवन पर थी । उस हड़प्पा संस्कृति को ताम्रपाषणिक संस्कृति भी कहते हैं । इस सभ्यता एवं संस्कृति का विस्तार सिन्धु नदी की घाटी में ही समझना एक ऐतिहासिक भूल होगी । अत: इस संस्कृति का भौगोलिक विस्तार पंजाब, सिन्ध, राजस्थान,

गुजरात, बलुचिस्तान के हिस्सों, पश्चिम उत्तर प्रदेश, उत्तर में जम्मू से दक्षिण में नर्मदा नदी तक तथा पश्चिम में बलुचिस्तान से उत्तर पूर्व में मेरठ तक फैला था । अत: जिन स्थानों पर उत्खनन द्वारा इस सभ्यता के प्रमाण व अवशेष प्राप्त हुये वह सभी इस संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते हैं । इस सभ्यता को हड़प्पा सभ्यता भी कहा जाता है क्योंकि इस सभ्यता के मुख्य केन्द्र हड़प्पा में प्राप्त हुए हैं । वीएन. मिश्रा का यह कथन है कि राजस्थान की घग्गर नदी की घाटी में इस सभ्यता के सबसे अधिक केन्द्र मिले हैं । जिसके बल पर इसे घग्गर या जैसाकि इस नदी का वैदिक काल में सरस्वती नाम था, सरस्वती सभ्यता भी कहा जा सकता है । चूंकि इस सभ्यता के अब तक अधिक अवशेष सिन्धु व सरस्वती नदी के क्षेत्रों में ही उपलब्ध हुए हैं इस कारण इसे सिन्धु सरस्वती नदी सभ्यता कहना भी उपयुक्त रहेगा। पुरातत्ववेत्ताओं के लिये यह सभ्यता एक चुनौती के रुप में रही है । इसकी लिपि भी अभी तक पूरी पढ़ी नहीं जा सकी है । इसके अलावा इस सभ्यता के नये स्थल विशेषकर गुजरात व पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी सामने आ रहे हैं ।

7.3 सभ्यता. की उत्पत्ति (Origin)

सैंधव या सिन्धु-सरस्वती सभ्यता की उत्पत्ति का प्रश्न रहस्यमय इसलिये बना रहा है कि इसके सर्वप्रमुख केन्द्र जैसे हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जहां सर्वप्रथम इसके अवशेष प्राप्त हुये थे, इन स्थानों पर इस सभ्यता का शैशव काल स्पष्ट नहीं हो सका था और जिस गहराई तक उत्खनन करना सम्भव हो सका वहां भी इसकी विकसित अवस्था के ही अवशेष प्राप्त हुये ।

सैंधव सभ्यता के विषय में प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति पश्चिमी एशिया में खोजने का प्रयास किया था। व्हीलर जैसे विद्वानों ने भी यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि सैंधव प्रदेश में सभ्यता का विचार सम्भवत: दजला-फरात की घाटी में विकसित मेसोपोटोमिया की सभ्यता से आया हो । उनके अनुसार मेसोपोटोमिया की सभ्यता अपेक्षतया प्राचीन है और सैंधव सभ्यता के साथ यद्यपि उसकी पूर्ण एकरूपता तो नहीं है तथा दोनों में उल्लेखनीय समानतायें हैं । इसके अतिरिक्त उनकी भौगोलिक स्थिति को देखते हुए यह स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं लगता कि दोनों प्रदेशों में प्राय: एक जैसी सभ्यता का उदय पूर्णत स्वतंत्र रूप से हुआ होगा । कुछ लोगों के अनुसारा सैंधव सभ्यता

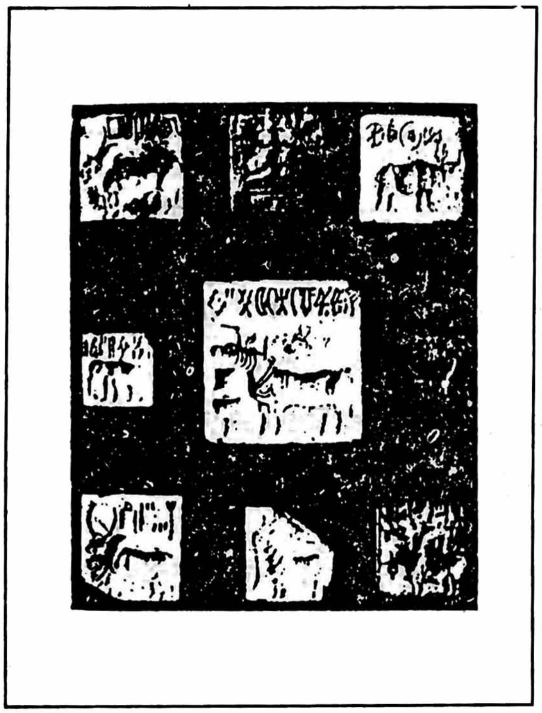

सिन्धु घाटी से प्राप्त मोहरें **मोहनजोदड़ो से प्राप्त पुजारी का सिर**

के निर्माता "द्रविड़" थे । इस आधार पर हॉल महोदय ने पश्चिमी एशियाई स्रोत मानते हुये यह कहा है कि सुमेर सभ्यता के निर्माता भी "द्रविड़" थे । कुछ अन्य विद्वान सैंधव निवासियों को "फीनिशियन" मानते हुए पश्चिमी एशियाई मूल के सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। लेकिन पश्चिमी एशियाई मूल का सिद्धान्त अधिकांश विद्वानों को अब मान्य नहीं है क्योंकि पश्चिमी एशियाई सभ्यताओं के साथ

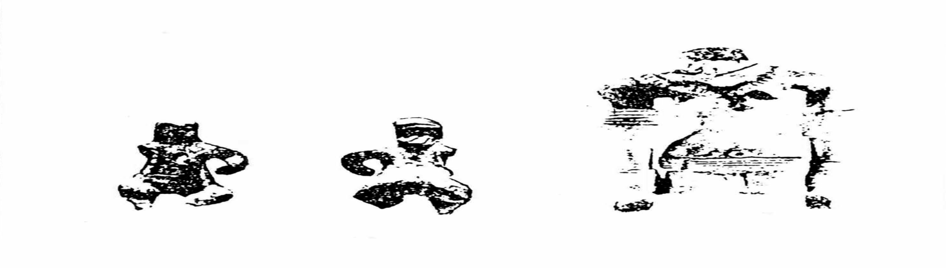

हड़प्पा से प्राप्त मृणमूर्तियां

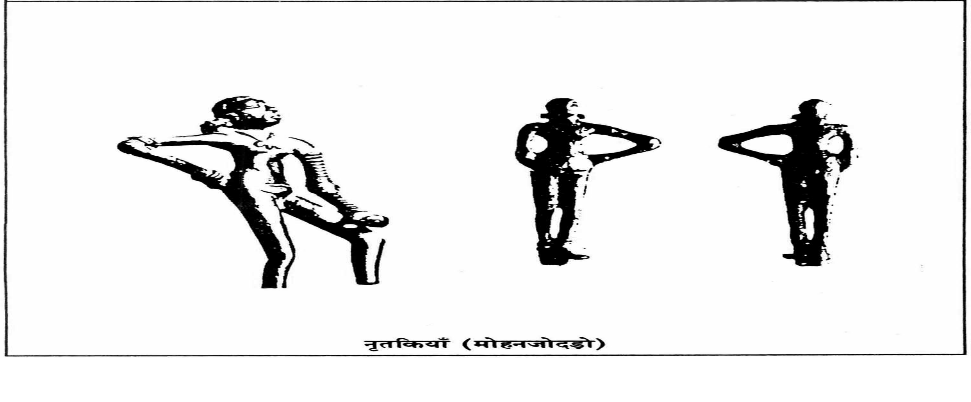

नृतकियाँ (मोहनजोदड़ो)

कई समानताओं के होते हुए भी सैंधव सभ्यता की अपनी कुछ मौलिक विशिष्टतायें हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है ।

घोष महोदय की यह मान्यता है कि सैंधव सभ्यता का विकास बाहर से आये हुए उपनिवेशवादियों ने नहीं किया वरन् सैंधव प्रदेश के उन्हीं स्थानीय लोगों में से कुछ निर्माण शक्ति सम्पन्न लोगों ने किया जो पहले से यहां निवास कर रहे थे। नगरीय जीवन का विचार सम्भवत: उन्हें समकालीन सुमेरिया से प्राप्त हुआ हो । लेकिन एक बार इसका ज्ञान हो जाने पर उन्होंने सुमेरिया के नगरों से अच्छे नगरों के निर्माण का प्रयास किया । अपनी समृद्धि बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने पश्चिमी रशिया के साथ व्यापार सम्बन्धों का विकास किया । जिससे उन्हें विशिष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

7.4 प्रमुख स्थल व विस्तार (Extent)

सैंधव सभ्यता के अवशेष सर्वप्रथम हड़प्पा (1921) और मोहनजोदड़ो (1922) में उपलब्ध हुये थे । कई नवीन स्थलों की भी खोज की गई, जैसे चन्हूदाड़ो (Chanhudaro), सुत्कगेन्दर (Sutkagendor) इत्यादि । लेकिन 1947 के भारत विभाजन के कारण सैंधव सभ्यता के प्राय: सभी महत्वपूर्ण स्थल पाकिस्तान के भू-भाग में चले गये । यह भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं के लिये एक नई

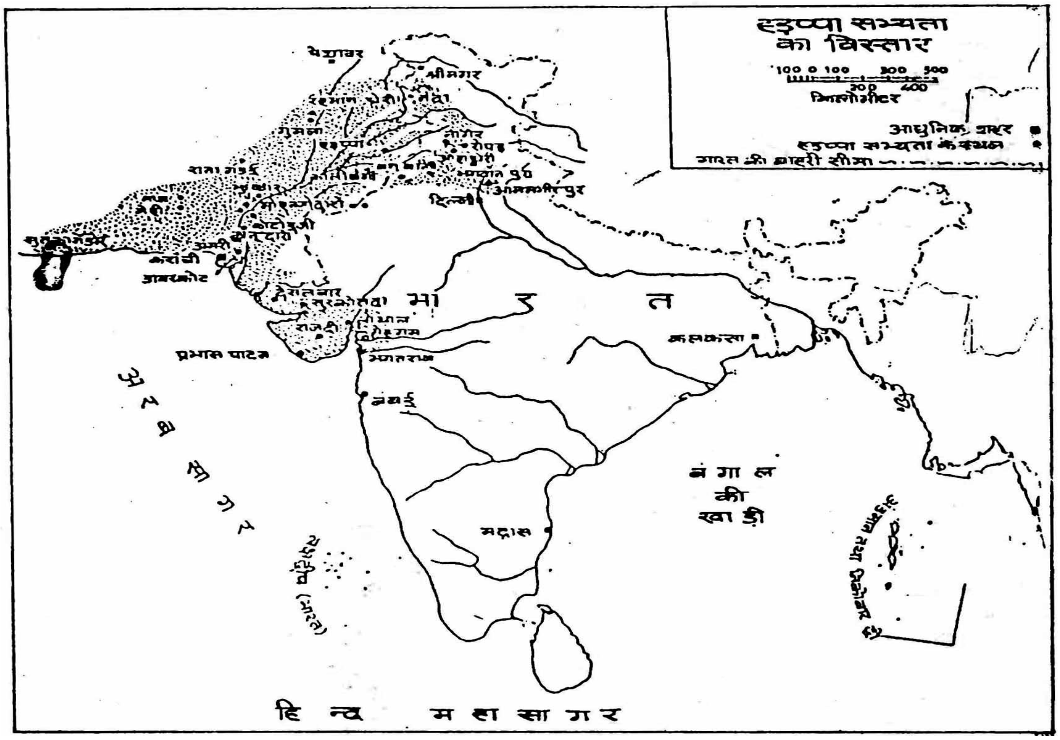

चुनौती थी । अत: निकटवर्ती भारतीय प्रदेश में व्यापक रूप से सर्वेक्षण किया गया जिसके फलस्वरूप राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और गुजरात में सैंधव सभ्यता के अनेक नवीन स्थलों की खोज की गई । इन स्थानों में सर्वप्रमुख है गंगानगर जिले में स्थित कालीबंगा । जहां पिछले दशक में श्री बी.बी. लाल और बी.के. थापर के उत्खननों से बहुत महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में आई । यहां लगभग हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के समान योजना वाले एक विशाल नगर के अवशेष मिलें । पूर्वी पंजाब

के क्षेत्र में सतलज की घाटी में कोटलानिहंग, वाड़ा, रोपड़, चकपुत्रने आदि स्थलों पर सैंधव सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुये । इन स्थानों में रोपड़ सबसे प्रमुख है । जो सैंधव सभ्यता की उत्तरी सीमा का सूचक है । पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यमुना की सहायक हिंडन नदी के तट पर डी. शर्मा ने मेरठ जिले में स्थित आलमगीरपुर नामक स्थान खोज निकाला जो हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में सैंधव सभ्यता का सबसे पूर्वी स्थल है । लोथल, रंगपुर, प्रभास, पाटन, रोजड़ी आदि उल्लेखनीय हैं । इनमें लोथल सबसे महत्वपूर्ण स्थल है । जो सैंधव सभ्यता के व्यापारिक क्रिया-कलापों का शायद सबसे बड़ा केन्द्र था । नीचे की और नर्मदा आर ताप्ती नदियों के तट पर मेघम तेलोद तथा भगतराव में सैंधव अवशेष पाये गये हैं । भगतराव सैंधव सभ्यता की दक्षिणी सीमा है । इस प्रकार आज के भारत में सैंधव सभ्यता से संबंधित एक सौ से अधिक स्थान खोजे जा चुके हैं । पाकिस्तान क्षेत्र में सैंधव सभ्यता का सबसे प्रसिद्ध स्थल सुतकगेन्दर ईरान की सीमा से लगभग 40 किलोमीटर पूर्व और अरब सागर से लगभग 50 किलोमीटर उत्तर की ओर है । सुतकगेन्दर से 130 किलोमीटर पूर्व-दक्षिण-पूर्व की ओर सीत्का-कोह नामक एक और स्थान ढूंढा गया है ।

मध्य बलुचिस्तान में सैंधव सभ्यता के कुछ स्थल विदित हैं जिनमें केवल मेही विशेष उल्लेखनीय है । दक्षिणी-पूर्वी बलुचिस्तान के कुछ स्थानों पर नगरीकरण के कुछ महत्वपूर्ण संकेत मिले हैं और ऐसा लगता है कि वे चिन्ह यहां सैंधव सभ्यता के अस्तित्व के द्योतक हैं ।

सिन्ध प्रांत में सैंधव सभ्यता के महत्वपूर्ण स्थानों की सूची में अमरी, कोददीजी, मोहनजोदड़ो, चन्हूदाड़ो, रोहरी, अलीमुराद, बालाकोट, थरों आदि का उल्लेख किया जा सकता है । सिन्ध प्रदेश में ही भूतपूर्व बहावलपुर राज्य में सैंधव सभ्यता के लगभग 1 दर्जन स्थानों का पता चलता है ।

सैंधव सभ्यता के उपरोक्त स्थानों को ध्यान में रखते हुये हम कह सकते हैं कि इसके विस्तार क्षेत्र में बलुचिस्तान, उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त, पंजाब, सिन्ध, गुजरात का अधिकांश भाग, उत्तर राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का कुछ भाग सम्मिलित था । पश्चिम में सुतकगेन्दर से पूर्व में आलमगीरपुर तक इसकी दूरी 1550 किलोमीटर और उत्तर में रोपड़ से दक्षिण में भगतराव तक इसकी दूरी 1100 किलोमीटर है और इसके अन्दर लगभग 5 लाख वर्ग मील क्षेत्र समाहित था। नवीनतम खोजों से जम्मू में चिनाव के किनारे मांडा तथा चंडीगढ़ के सेक्टर नम्बर 17 से भी सिन्धु सभ्यता के अवशेष मिले हैं और महाराष्ट्र में गोदावरी के किनारे दाहिमाबाद से जो अवशेष मिले हैं उन्हें भी उत्खनन कर्ता ने सिन्धु सभ्यता के अन्तर्गत बताया है । इस प्रकार सैंधव सभ्यता वर्तमान पाकिस्तान के आकार से कहीं बड़ी थी और इस विस्तृत क्षेत्र के अन्दर जिस सभ्यता का विकास हुआ उसकी महत्ता और विशिष्टता का आधार-भूत तत्व था उसमें व्याप्त एकरूपता। वास्तव में इस सभ्यता के विस्तार के वर्तमान स्वरूप को देखते हुये इसे सिन्धुघाटी सभ्यता कहना अतर्कसंगत और भ्रामक लगता है और यही कारण है कि इसे सैंधव सभ्यता कहना अधिक युक्तिसंगत है । क्षेत्र की दृष्टि से यह मिस्र या सुमेरियाई सभ्यता से कहीं विशाल थी ।

7.5 सभ्यता की तिथि (Date)

सैंधव सभ्यता की तिथि निर्धारित करने का सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयास सर जान मार्शन ने 1931 में किया था । उन्होंने मेसोपोटामिया सभ्यता के साथ इसकी समानताओं के आधार पर इसका समय 3250 से 2750 ई.पू निर्धारित किया । मुद्राओं के आधार पर सैंधव निवासियों का मेसोपोटेमिया

के साथ सक्रिय व्यापार का समय 2350 से 1770 ई.पू प्रतीत होता है । पीछे व्हीलर और पिगॉट जैसे विद्वानों ने इन मुद्राओं की पुन: समीक्षा की और इनके तथा सम्बद्ध काल-निर्णय (Cross dating) के आधार पर उन्होंने सैंधव सभ्यता का समय लगभग 2500-1500 ई.पू. निर्धारित किया । सैंधव सभ्यता के विषय में व्हीलर द्वारा प्रस्तावित यह तिथि अभी हाल तक प्राय: सर्वस्वीकृत मानी जाती रही है । 1955 में एल्ब्राइट महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया कि मेसोपोटामिया के साक्ष्य के साथ मेल बैठाने के लिये सैंधव सभ्यता का लगभग 1750 ई.पू. में अन्त स्वीकार करना आवश्यक है ।

तिथि-निर्धारण में कार्बन 14 विधि के उपयोग और सैंधव तथा उससे सम्बद्ध कुछ स्थलों पर तिथि निर्धारण में इसके उपयोग से सैंधव तिथि की समस्या पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है ।

यद्यपि सैंधव सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर इस सभ्यता के प्रारंभिक चरण के लिये कोई कार्बन- 14 तिथि उपलब्ध नहीं है, तथापि उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 2100 ई.पू. में यह सभ्यता निश्चय ही अपने मध्यकाल में थी । अत: इसका उदय प्रचलित तिथि 2500 ई.पू. या उसके 50 वर्ष बाद स्वीकार किया जा सकता है ।

सैंधव सभ्यता के अन्त की तिथि के विषय में उपलब्ध प्रमाण और अधिक महत्वपूर्ण लगता है । जिन किन्हीं स्थानों पर अन्तिम चरण के लिये कार्बन- 14 तिथियां उपलब्ध हुई हैं उनके आधार पर इन स्थानों पर 1800 ई.पू. के बाद सैंधव सभ्यता के जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं है । ए. घोष महोदय ने सैंधव सभ्यता का उदय 2500-2450 ई.पू. और इसका अन्त 1900-1600 ई.पू. निर्धारित किया है । लगभग 2500 से 1700 ई.पू. वाली तिथि ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है।

7.6 निर्माता (Authors)

सैंधव सभ्यता के जन्मदाताओं अथवा निर्माताओं के निर्धारण की समस्या उलझी हुई है । कुछ विद्वानों की यह मान्यता रही है कि सैंधव सभ्यता और ऋग्वेदिक सभ्यता आर्यो की सभ्यता के ही दो भिन्न रूप हैं । लेकिन इन दोनों सभ्यताओं के सांस्कृतिक और भौतिक जीवन के स्तरों में जो आधार-भूत भेद दिखाई देते है । उसके प्रकाश में सैंधव सभ्यता को आर्य अथवा वैदिक सभ्यता से भिन्न मानना आवश्यक प्रतीत होता है ।

लिखित साक्ष्यों के विवरण के अभाव में अस्थिपंजरों की समीक्षा ही एकमात्र आधार है, जिससे हम सैंधव निर्माताओं के विषय में अनुमान लगा सकते हैं । स्मरणीय है कि हड़प्पा के उत्खनन में श्मशान R 37 से लगभग 60 अस्थिपंजर उपलब्ध हुये थे । इसी प्रकार मोहनजोदड़ो, चन्हूदाड़ो आदि स्थानों से भी अस्थिपंजरों के कुछ अवशेष मिले थे । इनके प्रारंभिक विश्लेषण के आधार पर सैंधव निवासियों में 4 प्रजातियों (Races) के लोगों के होने का अनुमान किया गया- (1) प्रोटो-आस्ट्रेलायड (Proto-Australold) अथवा काकेशियन, (2) मेडिटरेनियन (Mediterranean) अथवा भूमध्यसागरीय, (3) अल्पाइन (Alpine) और (4) मंगोलायड (Mongoloid) अथवा मंगोलियन । सैंधव जनसंख्या के इस मिश्रित रूप को देखते हुये यह निर्धारित करना कठिन है कि इनमें किस जाति के लोग वस्तुत: इसके निर्माता थे । कुछ विद्वानों की अवधारणा है कि कदाचित् प्रोटोआस्ट्रेलायड लोग सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अपेक्षतया हीन अवस्था में थे और सैंधव समाज के निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनके अनुसार सैंधव सभ्यता के प्रशासनिक और सृजनशील वर्ग का प्रतिनिधित्व सम्भवत: भूमध्यसागरीय (Mediterranean) लोग करते हैं ।

आधुनिक भारत में प्राचीन भूमध्यसागरीय लोगों के प्रतिनिधि के रूप में दक्षिणी भारत के द्रविड़ भाषा भाषी लोगों का उल्लेख किया जा सकता है । सैंधव सभ्यता के निर्माताओं और निवासियों में मिश्रित प्रजातियों के सिद्धान्त का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है । श्री ए. घोष के अनुसार यह मानना युक्तिसंगत लगता है कि विभिन्न प्रदेशों अथवा केन्द्रों के स्थानीय निवासियों ने ही अपने-अपने प्रदेशों में सैंधव सभ्यता को ग्रहण कर लिया न कि किन्हीं बाह्य उपनिवेशवादियों ने विभिन्न प्रदेशों में जाकर इसे विकसित किया

7.7 विनाश (Disappearance)

सैंधव सभ्यता से सम्बद्ध उपरोक्त समस्याओं में उसके विनाश की समस्या निश्चय ही सबसे क्लिष्ट और विवादास्पद है । इसके विनाश के लिये (क) विदेशी आक्रमण, (ख) अत्यधिक चराई और वन नाश से उत्तरोत्तर सूखे और मरूस्थल का विस्तार और प्रसार, (ग) लगातार नदियों की बाढ़ और उससे उत्पन्न नदी की मिट्टी के जमाव (Silting) से उपजाऊ मिट्टी का क्षेत्र कम हो जाना, (घ) स्वाभाविक पतन आदि अनेक कारणों को अलग-अलग अथवा सम्मिलित रूप से सैंधव सभ्यता के विनाश के लिये उत्तरदायी माना गया है ।

विदेशी आक्रमण के सिद्धान्त का सर्वप्रथम विधिवत् प्रतिपादन व्हीलर महोदय ने किया और पीछे यह मत पर्याप्त प्रचलित रहा है । उन्होंने मोहनजोदड़ो का सड़कों और घरों से उपलब्ध होने वाले उन स्त्री पुरुष और बच्चों के अस्थिपंजरों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिन्हें बिना शव-संस्कार किये ऐसे ही छोड़ दिया गया है । व्हीलर के अनुसार यह किसी बाह्य आक्रमण और आकस्मिक विनाश का प्रतीक है । इसके साथ ही ऋग्वेद तथा अन्य परवर्ती वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों में असुरों, दासों और दस्युओं का विवरण है और उनके अयसनिर्मित किलो और पुरों का इन्द्र के द्वारा विनष्ट किये जाने का उल्लेख है । चूंकि दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य, जो आर्यों के भारत पर आने का सम्भावित समय है, सैंधववासियों के अतिरिक्त किसी अन्य भारतीय सभ्यता के नगर और किले हमें ज्ञात नहीं है, साथ ही सैंधव सभ्यता के लोगों का अनार्य होना प्राय: निश्चित है । अत: व्हीलर जैसे विद्वानों ने आर्य आक्रमण को ही सैंधव सभ्यता के विनाश का अन्तिम और निर्णायक कारण माना है । यह धारणा इसलिये भी लोकप्रिय हो गई कि सैंधव निवासी शांतिप्रिय, व्यापार-कुशल लोग प्रतीत होते हैं, जिनकी युद्ध कला रण-कौशल आदि में कदाचित् विशेष रूचि न रही हो और जिसके फलस्वरूप उनके पास अस्त्र-शस्त्र कम और रण संचालन शिथिल रहा होगा । लेकिन आर्य आक्रमण के कारण सैंधव विनाश की बात अब स्वीकार नहीं की जाती । विनाश संबंधी वैदिक उल्लेखों का जहां तक प्रश्न है यहां केवल इतना उल्लेख किया जा सकता है । नवीन शोधों के अनुसार दस्यु सम्भवत: आसुरी शक्तियां है और पुरों में कदाचित् बादल की कल्पना की गई जिसे मार कर इन्द्र से वर्षा करने के लिये स्तुति की गई है । स्मरणीय है कि इन्द्र वर्षा के भी देवता थे । पुरातात्विक साक्ष्यों से आर्य आक्रमण की कल्पना अब और असंगत सिद्ध हो गई है क्योंकि सैंधव सभ्यता का कोई भी केन्द्र ऐसा नहीं है जहां उसके निवासी आर्यो के साथ मित्रता अथवा शत्रुतापूर्ण सम्पर्क में आये हों । आर्य आक्रमण द्वारा सैंधव सभ्यता के विनाश के सिद्धान्त को अधिकांश पुरातत्ववेत्ता अब स्वीकार नहीं करते हैं । जहां तक प्राकृतिक कारणों का संबंध है डेल्स महोदय ने कहा है कि सूख और मरूस्थल के विस्तार के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वलूचिस्तान और सैंधव की जलवायु में पिछले

4000 वर्षों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है । बल्कि डेल्स महोदय के अनुसार सिन्धु नदी में बार- बार आने वाली भयंकर बाढ़ों के कारण सिन्धु के मुहाने पर बाढ़ के द्वारा लाई गई मिट्टी का जमाव बढ़ता रहा, जिसकी वजह से मोहनजोदड़ो के आस-पास के क्षेत्रों में पानी का स्तर (Water-level) ऊपर आ गया और यही सैंधव सभ्यता के विनाश का मुख्य कारण सिद्ध हुआ ।

ए. घोष महोदय के अनुसार डेल्स द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त कारण स्वयं सिन्धु घाटी के लिये युक्तिसंगत हो सकता है । लेकिन, सैंधव सभ्यता के अन्य प्रदेशों में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ सूखा (Dessication) भी उसके विनाश का एक कारण हो सकता है ।

सैंधव सभ्यता में आन्तरिक ह्रास भी इसके पतन और विनाश का महत्वपूर्ण कारण हो सकता है । इस सम्भावना के स्पष्ट संकेत मोहनजोदड़ो में मिलते हैं । मोहनजोदड़ो के उत्खनन से ऐसा लगता है कि ऊपरी अथवा अन्तिम चरण में लोग पहले की अपेक्षा कम समृद्ध हो गये थे । नगर-योजना और भवन-निर्माण कला पतनोन्मुख हो गई थी । उसके परम्परागत रूप को सुरक्षित रखने में वहां का प्रशासनिक तंत्र असमर्थ हो रहा था । व्यापार में अवनति हो रही थी । सभी संकेत सभ्यता अवनति काल के सूचक हैं ।

उपरोक्त विवरणों से यह भी स्पष्ट है कि सभी प्रदेशों में सैंधव सभ्यता का एक जैसे कारणों से अन्त नहीं हुआ होगा। निष्कर्ष: यही कहा जा सकता है कि सैंधव सभ्यता के संपूर्ण वितरण क्षेत्र में इसके पराभाव के सही-सही कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं ।

7.8 नगर योजना एवं स्थापत्य कला

सिन्धु-सरस्वती के जनों के जीवन के विविध पक्षों की जानकारी के लिए हमारे पास अवशेष ही उपलब्ध हैं । पर प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उनकी नगर-योजना सर्वाधिक आकर्षण का केन्द्र है । इसको नगर योजना की आधार सामग्री मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, चन्हूदड़ो, कालीबंगा, लोथल, सुरकोतदा आदि खुदाइयों से प्राप्त होती है । हाल ही में गुजरात के कुवंशी ग्राम (मोरवी से 25 किमी. दूर) से भी सैंधव सभ्यता के अवशेष व एक बंदरगाह का पता चला है ।सैंधव सभ्यता मुख्यत: नगरीय व व्यापार प्रधान सभ्यता थी । सैंधव निवासी विशाल नगर, पक्के भवन, सुव्यवस्थित सड़क, नालियों व स्नानागारों के निर्माता थे । सैंधव सभ्यता का विकास नदी के किनारे हुआ था । इस कारण हमेशा बाढ़ का भय भी रहता था । यही कारण है कि इनके नगरों का निश्चित योजना के अनुसार ही निर्माण हुआ है । नगर-योजना के प्रमुख स्थल इस प्रकार हैं-

मोहनजोदड़ो - यह स्थान दो खण्डों में विभाजित है : पश्चिमी और पूर्वी । इसमें पश्चिमी खंड अपेक्षाकृत छोटा है । इस खंड में कई सार्वजनिक इमारतें हैं । इस खंड को संभवत: सबसे विशिष्ट संरचनात्मक विशेषता लगभग 29 x 23 फुट का तालाब है जिसमें ईंटों की तह लगाकर ऊपर से बिटुमन का लेप कर दिया गया है! ताकि पानी बाहर न आ सके । कई विद्वानों ने इसका धार्मिक महत्व माना है । अन्य भवनों के अवशेष भी मिले हैं इनमें राजकीय पदाधिकारी रहते होंगे । एक अन्य भवन 80

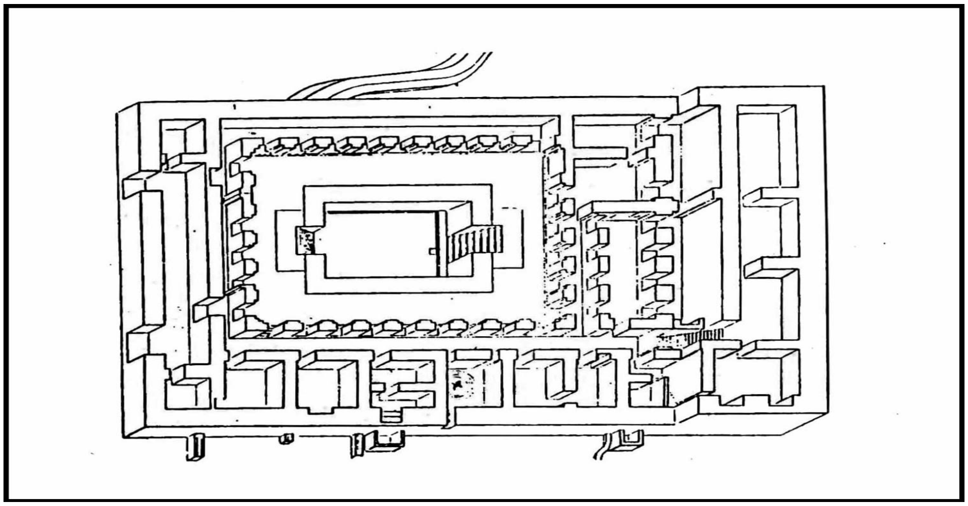

विशाल स्नानागार, मोहनजोदड़ो

फुट लम्बा 80 फुट चौड़ा था, इसकी छत भी स्तंभों पर टिकी थी- ये संख्या में 20 थे । यह किसी सामूहिक कार्य के लिए बना था । पूर्वी खंड कहीं बड़ा है । पर इसकी ऊंचाई पश्चिमी खंड से कम बैठती है । इसे निचला टीला भी कहा जाता है । यह खंड लगभग 30 फुट चौड़ी अनेक मुख्य सड़कों के द्वारा अनेक गृह समूहों में विभाजित था । मोहनजोदड़ो के मकान पक्की ईंटों से बने थे जिनमें कहीं-कहीं दूसरी मंजिल भी बनी थी और उनमें जल निकास का प्रबंध था । कुछ सार्वजनिक कुएं भी थे जिनमें ईंटों की तह लगी थी । मकानों की मूल योजना में एक आँगन होता था, जिसके किनारों के साथ कमरे बने होते थे । कुल मिलाकर ये मकान देखने में बहुत सुंदर नहीं लगते थे । लेकिन इनमें कार्यकुशलता का ध्यान रखा गया है ।

हड़प्पा - हड़प्पा में भी दो खंड हैं : पूर्वी और पश्चिमी । उत्खननों से यहां "अन्न भंडार", "श्रमिक आवास" मिले हैं । प्रत्येक भंडागार 50 फुट लम्बा व 20 फुट चौड़ा था । इनका प्रवेश द्वार सरिता की ओर था - ये राजकीय थे । इनके लगभग 100 गज दक्षिण में ईंटों के गोलाकार चबूतरे मिले हैं, संभवत: इनमें अनाज कूटा जाता था । सामान्य आवास क्षेत्र के दक्षिण में एक कब्रिस्तान मिला है।

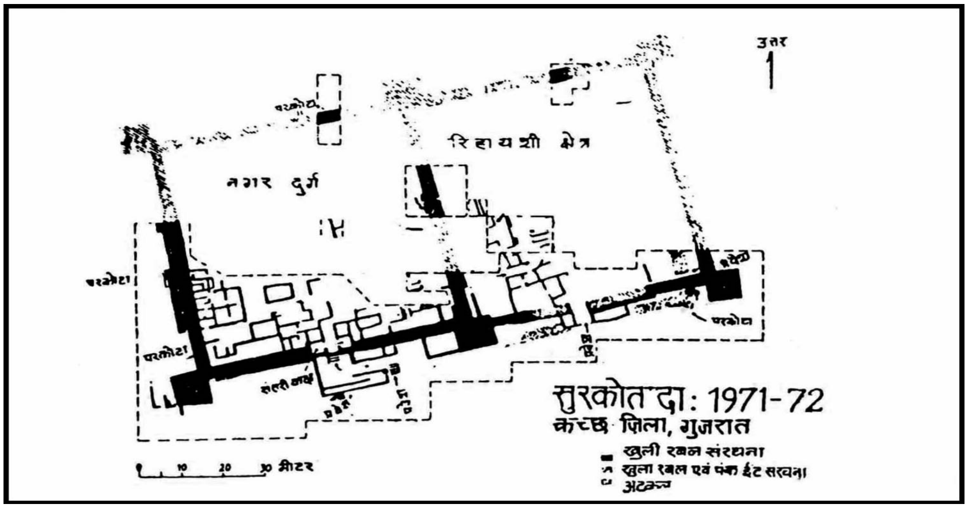

सुरकोतदा की नगर योजना

चन्हूदड़ो - यहां से मनके बनाने के एक कारखाने के अवशेष मिलते हैं ।

कालीबंगा - मोहनजोदड़ो के सम्मुख यह एक दीनहीन बस्ती थी । इसमें भी दो भिन्न-भिन्न टीले मिलते हैं । कालीबंगा के पूर्वी टीले की योजना मोहनजोदड़ो की योजना से मिलती जुलती है, किन्तु कालीबंगा के घर कच्ची ईंटों के बने थे ।

लोथल - पूरी बस्ती एक ही दीवार से घिरी थी । लोथल के पूर्वी खंड में पक्की ईंटों का एक तालाब जैसा घेरा मिलता है । कुछ विद्वानों ने इसकी व्याख्या गोदीबाड़े के रूप में की है ।

सुरकोतदा - इसमें मोहनजोदड़ो के पश्चिमी टीले की योजना की ही पुनरावृत्ति दिखाई देती है ।

सैंधव सभ्यता के विभिन्न स्थलों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि इसका नगर योजना का विकास सुव्यवस्थित तरीके से हुआथा । निर्माण कार्य में उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया गया था ।

7.9 कला

सर्वप्रथम हम इस सभ्यता की मूर्तिकला को दो भागों में बांटकर अध्ययन करते है- (1) उपासना के लिए एवं (2) सामान्य आकृतियों की मूर्तियां । इसके निर्माण की चार शैलियां प्रचलित थी- (1) धातुओं को तपाकर उन्हें साँचे में ढाल कर मूर्तियाँ बनाना, (2) ठप्पा लगाकर मूर्तियाँ बनाना, (3) मिट्टी की मूर्तियों बना कर आग में पकाना तथा (4) पत्थर काट कर मूर्तियाँ तराशना । इन मूर्तियों में हाव-भाव प्रदर्शन एवं शरीर के विभिन्न अंगों की सन्तुलित अभिव्यक्ति है ।

इस सभ्यता के कलाकार को विभिन्न धातुओं के प्रयोग व उपयोगिता का पूरा-पूरा ज्ञान था। धातुकला का इतना ज्ञान था कि वे विभिन्न धातुओं के मिश्रण के गुणों को भी भली प्रकार जानते थे । विभिन्न धातुओं को गलाने, काटने, ढालने, चिकना करने एवं चमक पैदा करने की कला भी परिपक्व हो चुकी थी । इन्हें पाषाण की उपयोगिता, आकार, प्रकार तथा रंगों का पूरा ज्ञान था । इन्हें किसी ऐसे मिश्रण का भी ज्ञान था जो पाषाण को जोड़ देता था ।

इस सभ्यता की चित्रकला का विषय सामान्य जीवन से जुड़ा था । इस काल के चित्रों को दो

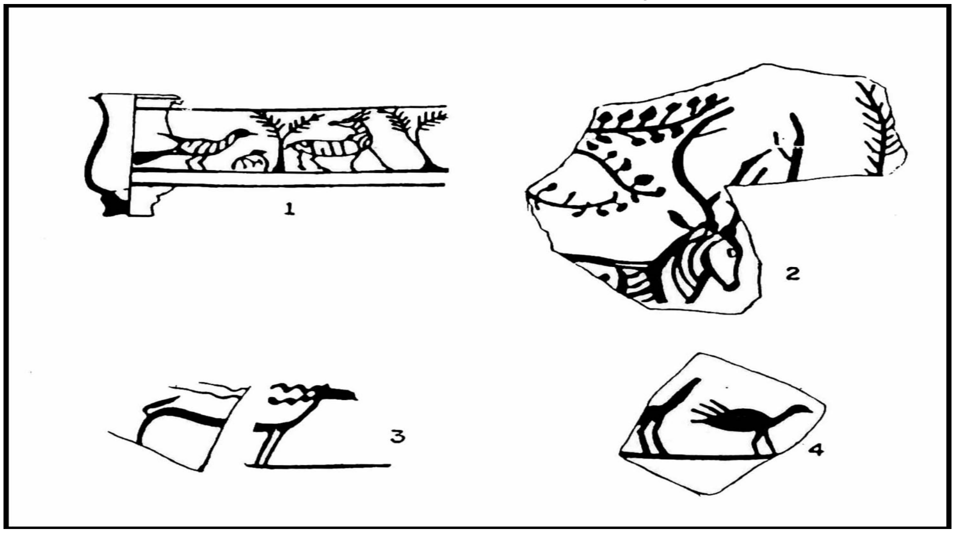

चित्रकला के कुछ उदाहरण

भागों में विभक्त किया जा सकता है (1) दृश्यात्मक चित्रण- इसमें पशु पक्षियों, बेलबूटों एवं मानव आकृतियों का चित्रण है । यह चित्रकला परम्परागत अभ्यास को प्रदर्शित करती है, (2) ज्यामितीय चित्रण।

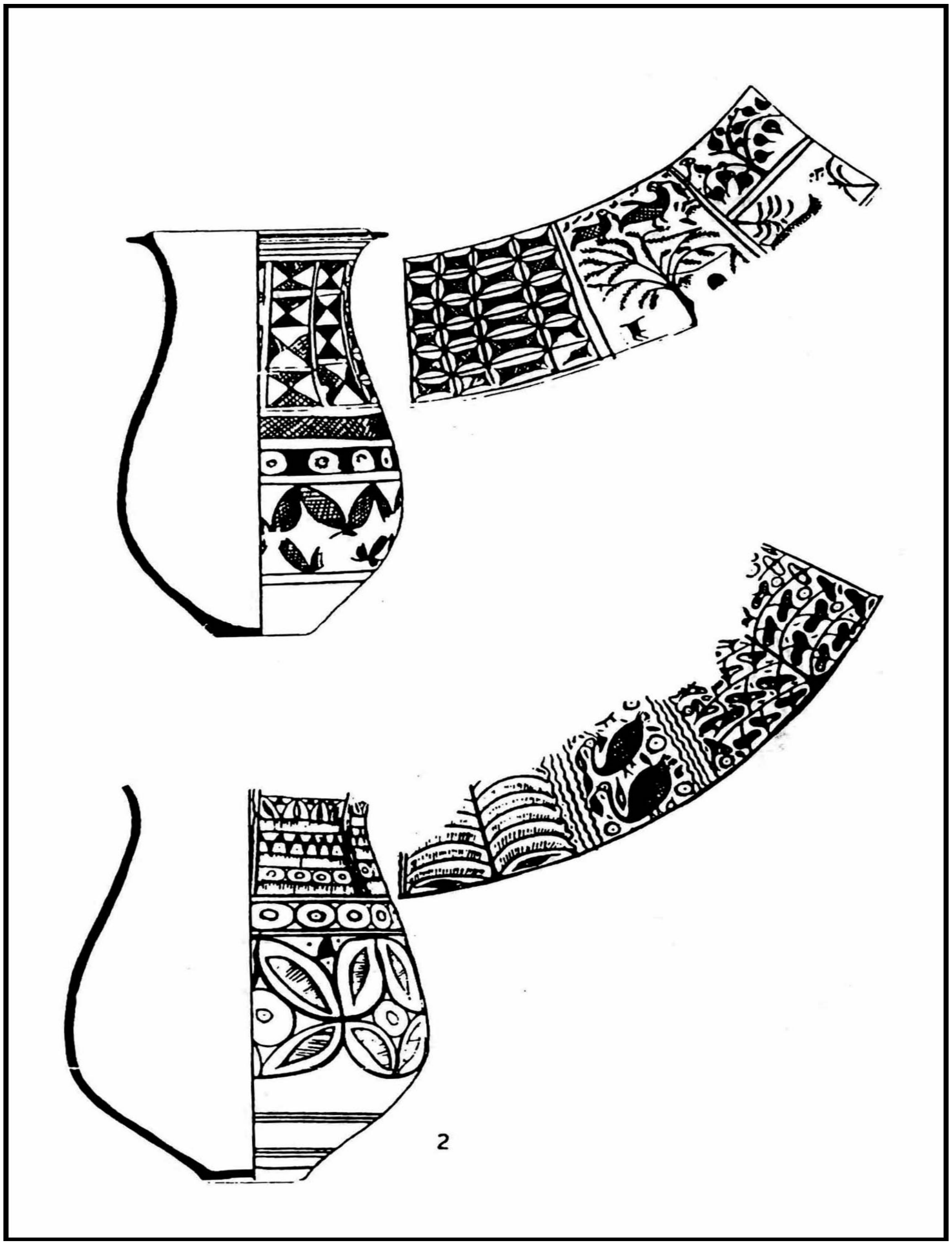

बर्तनों पर की गयी कला

सिंधु घाटी से प्राप्त मुद्राओं के आकार प्क्रार, स्वरूप व प्रतीक चिह्नों से ज्ञात होता है कि यह कला पर्याप्त रूप से विकसित थी ।

सिन्धु वासी लेखन कला से भी परिचित था तथा उनकी लिपि संकेतात्मक एवं चित्र प्रधान थी ।

विभिन्न मुद्राओं पर संगीत समारोह का अंकन, नर्तकी की नृत्य मुद्रा का अंकन एवं ढोल वीणा का अंकन, प्राप्त खिलौनों की पूँछ में सीटी व बांसुरी का होना आदि यह प्रमाणित करते हैं कि उस समय नृत्य एवं संगीत कला भी विकसित हो चुकी थी ।

अत: कहा जा सकता है कि यह कला सहज, सरल होते हुये उपयोगितात्मक है । इसके रूप व गुण मौलिक एवं स्वदेशी हैं । इसमें सजीव, स्वाभाविक व सामान्य भाव-अभिव्यक्ति है ।

7.10 सामाजिक जीवन

प्राप्त प्रमाणों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक लोगों का जीवन सरल, सादा तथा मानवीय अभिरूचियों की अनुभूतियों था । नारियों की मूर्तियाँ अधिक होने के कारण ऐसा विश्वास किया जाता है कि समाज तथा परिवार में इनका विशेष स्थान था । यह भी कहा जा सकता है कि परिवार मातृ-प्रधान था ।

कार्य के अनुसार समाज को कई वर्गो में विभाजित किया जा सकता है । ये वर्ग अधिकारी, पुरोहित, कर्मचारी, चिकित्सक, व्यापारी, व्यवसायी, स्वर्णकार, धातुकार, कुम्भकार, बुनकर, कृषक और श्रमिक इत्यादि के थे । अत: इन वर्गो को चार प्रकार से विभक्त किया जा सकता है - बौद्धिक वर्ग, राजकीय पदाधिकारी, व्यापारी एवं कारीगर । उपरोक्त वर्ग-विभाजन को समाज के आवश्यक तत्वों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है ।

प्राप्त रेखांकनों से पता चलता है उन्हें विभिन्न फलों (अनार, नारियल, खजूर, नींबू तरबूज इत्यादि) का ज्ञान था । वे मुख्यत: गेहूँ जौ, राई, तिल एवं विभिन्न सब्जियों का प्रयोग करते थे । अनेक मुद्राओं पर मछली पकड़ने, शिकार करने, मुर्गीपालन एवं बलि देने के चित्र अंकित है जो दर्शाते हें कि यह लोग मांसाहारी भी थे ।

अनेक मूर्तियाँ वस्त्र विहिन मिलती है । वस्त्र हैं भी तो नाम मात्र के लिए परंतु इस आधार पर अनुमान लगाना अनुचित होगा कि वे लोग वस्त्रों के प्रति उदासीन थे । मुद्राओं एवं चित्रों में नग्नता की विशेष अभिरुचि की भी हो सकती है । शरीर को ढकने के लिए दो प्रकार वस्त्रों का प्रयोग था- शरीर के नीचे के भाग को ढकने के लिए प्राय: लुंगी धारण करना तथा दूसरा शरीर के ऊपर के भाग को ढकने के लिए । स्त्रियों एवं पुरुषों की वेशभूषा में विशेष अन्तर का पता नहीं चलता। स्त्रियां सिर पर एक विशेष वस्त्र धारण करती थी जो पीछे लटका होता था ।

प्राप्त मूर्तियाँ, चित्र एवं मुद्राओं से प्रमाण मिलते हैं कि उनकी श्रृंगार प्रियता में विविधता थी। अलंकृत शिरोभूषण विशिष्ट ज्ञान का प्रतीक है । प्राप्त प्रसाधन सामग्री स्त्रियों में श्रृंगार प्रियता के सूचक हैं।

कुछ आभूषण ऐसे थे जो स्त्री एवं पुरुष समान रूप से पहनते थे तथा कुछ ऐसे थे जो स्त्रियाँ या पुरुष ही पहनते थे । प्राप्त आभूषणों को दो वर्गो में विभाजित करना उचित होगा । आधुनिक वर्ग के लोग बहुमूल्य धातुओं से बने आभूषण धारण करते थे तथा निर्धन वर्ग के लोग अस्थियों, धोंधों, सीपियों, ताम्र व पकाई मिट्टी के आभूषण धारण करते थे ।

अनेक मुद्राओं पर ढोल, वीणा तथा नर्तकी के चित्रांकन मिलता है । अनेक चित्रों में पशुओं का आखेट प्रदर्शित किया है। एक मुद्रा पर मुर्गों की लड़ाई अंकित है तथा एक पर व्यायाम करते हुये

पुरुष का चित्र है । अनेक प्रकार के खिलौने एवं गोलियाँ प्राप्त हुये हैं । प्राप्त सामग्री से यह भी पता चलता है कि उन्हें शतरंज जैसे खेल का भी ज्ञान था ।

उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं के दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली गृहोपयोगी उपकरण तथा सामग्री प्राप्त होती है । जमीन पर बिछाने के लिए चटाई तथा बैठने के लिए तिपाई एवं कुर्सी जैसी वस्तु का प्रयोग होता था । लेटने व सोने के लिए पलंग तथा चारपाई का प्रयोग होता था । इन सभी उपकरणों के चित्र मुद्राओं पर अंकित हैं । रात्रि में दीपक का प्रयोग होता था । मिट्टी के बर्तन काले, लाल कत्थई तथा पीले रंगों से रंगे जाते थे । इनकी पॉलिश इतनी चमकदार है कि वे आज भी चीनी मिट्टी के बर्तनों जैसी चमक लिये हुये हैं । बर्तनों पर चित्रांकन के साथ-साथ लेख भी प्राप्त होते हैं । अन्य गृहोपयोगी वस्तुओं में सूत कातने की तकाई, सुई, कंधे, हंसिया, चाकू, कुल्हाड़ी, छेनी, कांसे व ताम्बे के उस्तरे, मछली पकड़ने के कांटे व दर्पण आदि प्राप्त हुयी हैं।

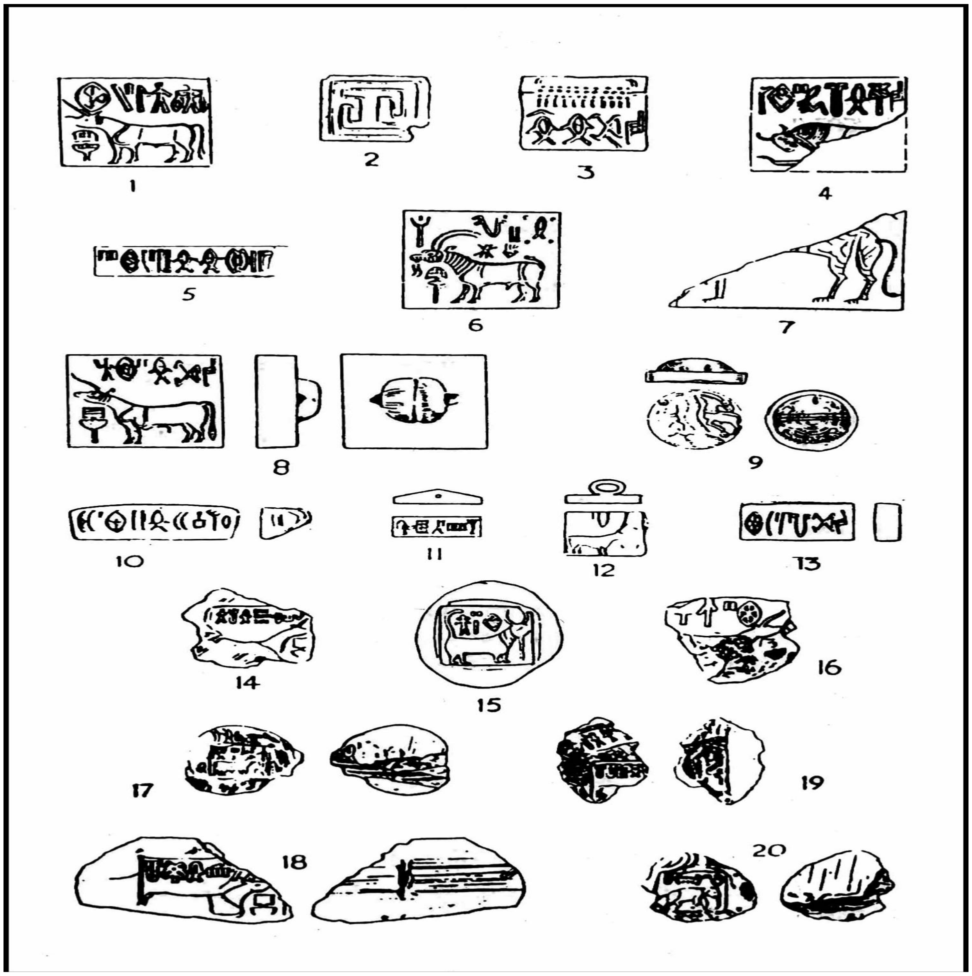

मुद्राओं के प्रकार

7.11 आर्थिक जीवन

सिन्धुघाटी के आर्थिक जीवन के विषय में चिन्तन करते हैं तो ऐसा अनुमान होता है कि ऐसी जीवन शैली के लिए किसी सुसंगठित, व्यवस्थित तथा सुचारू आर्थिक व्यवस्था अवश्य रही होगी ।

कृषि को प्रमुख स्थान था । विशाल भण्डारागार इस बात का प्रतीक है सिन्धुघाटी वासी दैनिक आवश्यकता से अधिक अन्न अवश्य संचित करते होंगे । अनेक प्रकार के खाद्यान्न दर्शाते है। कि उन्हें विभिन्न मौसम और मौसम के अनुकूल खेती का ज्ञान था । कपास के माध्यम से सूची वस्त्र बनाते थे और पशुपालन भी करते थे ।

सिन्धु सभ्यता नगर प्रधान थी जिसका आधार उन्नत व्यापार व वाणिज्य था । ऐसी अनेक सामग्री प्राप्त हुयी है जो विदेशों से आयात बताता है । सुमेरियन सभ्यता में सिन्धु घाटी की मुद्रायें प्राप्त होती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दर्शाती हैं ।

यातायात के साधनों का ज्ञान, घोड़ा-गाड़ी, बैल-गाड़ी एवं मनुष्यों द्वारा खींचने वाली दो व चार पहियों की गाड़ियों के खिलौने करवाते हैं । मुद्रा व बर्तनों पर नौका व जहाज का चित्रांकन जल मार्ग का भी प्रयोग दर्शाते हैं । अत: जलमार्ग के साथ-साथ स्थल मार्ग से भी व्यापार होता रहा होगा।

ये लोग कपास की खेती भी किया करते थे । हड्डियों एवं सीपों के बटन तथा धातु की सुईयाँ वस्त्रों की सिलाई एवं कढ़ाई का ज्ञान प्रमाणित करते हैं ।

भारी संख्या में सिक्कों का मिलना यह दर्शाता है कि क्रय-विक्रय का माध्यम वस्तु विनियम अथवा सांकेतिक मुद्रा के रूप में किया जाता होगा ।

प्राप्त प्रमाणों से पता चलता है कि सिन्धु घाटी वासी विभिन्न धातुओं एवं खनिज पदार्थो के बारे में भी जानते थे जो कि इस सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति की परिचायक है । ताँबे के कुल्हाड़े एवं बर्तन तथा कांसे के बर्तन भी प्राप्त हैं ।

सीपी का बना मापक यन्त्र एवं कई तराजू तथा छोटे-छोटे बाट प्राप्त हुये हैं जिनका प्रयोग विभिन्न वस्तुओं का वजन तोलने के लिए किया जाता था । अधिक भार के बाट से अनाज इत्यादि तोले जाते थे तथा बटखरों से बहुमूल्य पत्थर, धातु तथा छोटी वस्तुयें तोलने का कार्य होता था । बटखरों की इकाईयों 1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, 160, 200, 340 तथा 680 थीं ।

प्राप्त प्रमाणों, -उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं एवं घरों के आकार के हिसाब से जनसंख्या को आर्थिक वर्गो में विभक्त किया जा सकता है ।

7.12 धार्मिक विश्वास एवं मान्यतायें

उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर इस सभ्यता के धार्मिक विश्वास एवं जीवन की पृष्ठ भूमि में एक परम्परा का अध्ययन किया जा सकता है ।

प्राप्त मातृदेवी की मूर्तियाँ, बर्तनों एवं मुद्राओं पर मातृदेवी के चित्र, इन मूर्तियों एवं चित्रों में विविधताएं मातृदेवी के विभिन्न रूपों तथा प्रतीकों का बोध कराते हैं । विद्वानों का मत है कि सिन्धु वासियों का मानना था कि सृष्टि के आधार पर, संचालन तथा विनाश की शक्ति मातृदेवी में निहित है अत: शक्ति के रूप में मातृदेवी का पूजन किया जाता था ।

मुद्राओं एवं मूर्तियों के शिव के प्रारम्भिक रूप तथा परमपुरुष की आकृति है । इसकी संज्ञा ऋग्वेदिक रूद्र के समान पशुपति से भी की गई है । अत: उक्त काल को शैव धर्म की उत्पति का काल और क्षेत्र को शैव क्षेत्र मानकर उसे विश्व के प्राचीनतम धर्म में से एक माना जा सकता है । इस क्षेत्र के निवासी लिंग पूजा करते थे । उत्खनन में प्राय: दो प्रकार के लिंग प्राप्त होते हैं- रक्षवीटिका लिंग एवं नुकीलापन लिये लिंगा लिंग पूजा के साथ योनि पूजा भी प्रचलित थी । ये दोनों सृष्टिकर्ता के रूप को दर्शाते हैं ।

अनेकों वृक्षों की मूर्तियाँ एवं चित्र इस बात का प्रतीक हैं कि सिन्धुघाटी वासी वृक्षोपासना भी करते थे जिसमें नीम, बबूल, शीशम, खजूर एवं पीपल मुख्य हैं ।

प्राप्त प्रतिमाओं पर ऐसा चक्र बना है जिसके चारों और किरणें निकलती प्रतीत होती हैं । अत: यह सूर्योपासना का प्रचलन प्रमाणित करता है । प्राप्त अग्निशालायें अग्निपूजा को दर्शाता है । प्राप्त बलि कुण्ड एवं मुद्राओं पर चित्रांकन बलिपूजा को बल देता है । भारी मात्रा में प्राप्त ताबीज इस तथ्य को बल देता है कि कष्ट निवारण के लिए चाँदी एवं ताँबे के ताबीज पहने जाते थे ।

सिन्धु घाटी के निवासियों का धर्म केवल विश्वास एवं आस्था पर निर्भर करता है । प्राप्त सामग्री के आधार पर तथा जब तक लिपि को पढ़ा नहीं जाता यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि उनका कोई धर्म-दर्शन था अथवा नहीं ।

7.13 राजनैतिक संगठन तथा प्रशासन

सिन्धु सभ्यता के निवासगृहों, सार्वजनिक निर्माणों, स्नानागारों, विभिन्न मार्गों का नियोजन तथा सुव्यवस्थित रूप यह प्रमाणित करता है कि यहाँ का प्रशासन विकसित और सुसंगठित था । अप्रत्यक्ष प्रमाण विश्वास दिलाते हैं कि यहां के नागरिकों का जीवन सुरक्षित, शान्तिपूर्ण तथा व्यवस्थित था । राजनैतिक संगठन का निर्धारण विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया था । महापालिका या नगर विकास संस्था भी रही होगी । नगर को दीवारों से कई भागों में विभक्त किया गया था तथा इनकी चौकसी नगर रक्षक करते होंगे । यदि कुछ ऐसी व्यवस्था न रही होती तो मार्गों की रक्षा, प्रकाश के लिए प्रकाश खम्भ का प्रबन्ध एवं सफाई की व्यवस्था आदि की देखभाल नहीं हो सकती थी ।

7.14 सारांश

सैंधव सभ्यता के विभिन्न पक्षों की जानकारी में मात्र उत्खनन से प्राप्त अवशेष ही हमारी सहायता करते हैं । क्योंकि सैंधव लिपि का ज्ञान अभी हमें नहीं हो सका है । सैंधव सभ्यता अति विकसित सभ्यता थी । इसकी नगर योजना व स्थापत्य कला उपयोगिता पर आधारित थी । नगरों का विकास पूर्वनियोजित ढंग से किया गया है । धार्मिक क्षेत्र में इनकी जो मान्यताएं थी वे आज भी हिन्दू समाज में देखने को मिलती हैं । ये बहुदेववादी होते हुए भी एकेश्वरवादी थे । परम पुरुष व परम नारी की अवधारणा में ये विश्वास करते थे । इनके धार्मिक जीवन में पशुपति शिव की उपासना, मातृपूजा, जल-पूजा, वृक्ष-पूजा का विशेष स्थान था । इनका आर्थिक जीवन कृषि प्रधान था । वाणिज्य का भी विकास हो चुका था । उद्योग धंधे विकसित हो चुके थे । ये सोने, चांदी, पीतल, तांबे का प्रयोग करते थे । इनके सामाजिक जीवन की इकाई परिवार थी । इनका स्वरूप मातृसत्तात्मक था । अनेक वर्गों का कार्य विभाजन के आधार पर अस्तित्व था । इनका जीवन सम्पन्न व शांतिपूर्ण था । सैंधव लोग गेहूं जौ, राई, तिल, खजूर आदि का प्रयोग करते थे । शवोत्सर्ग की तीन विधियां ये अपनाते थे । (1) पूर्ण समाधीकरण, (2) आंशिक समाधीकरण और (3) दाहकर्म । सैंधवजन साक्षर थे । इन्होंने भाषा का विकास कर लिया था । प्राप्त सामग्री से उनके राजनीतिक जीवन पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है ।

7.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 150 शब्दों में दीजिए :

(1) सैंधव स्थापत्य व नगर योजना पर प्रकाश डालिए ।

(2) सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के निवासियों के धर्म का क्या स्वरूप था? परवर्ती हिंदू धर्म पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

(3) सिन्धु-सरस्वती निवासियों का सामाजिक ढांचा कैसा था.?

(4) सिन्धु-सरस्वती नदी सभ्यता का कहां तक विस्तार था?

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए :

(1) सिन्धु-सरस्वती सभ्यता की कला का क्या स्वरूप था?

(2) सिन्धु-सरस्वती सभ्यता की उत्पति एवं इसके निर्माताओं पर अपने विचार व्यक्त कीजिये ।

(3) सिन्धु- सरस्वती नदी सभ्यता के निवासियों के आर्थिक जीवन पर टिप्पणी लिखिये ।

7.16 शब्दावली

अवशेष	-	वह जो बच रहे या शेष रहे
उत्खनन	-	खुदाई, खोदने का कार्य
उपयोगितावादी	-	उपयोगितावाद का अनुयायी
काल	-	समय, अवसर, अवधि
कुम्भकला	-	घड़ा बनाने की कला, कुम्हार का कार्य
जनतन्त्रात्मक	-	जन-प्रतिनिधियों द्वारा चलायी जाने वाली प्रशासनिक व्यवस्था
नगर योजना	-	नगर के निर्माण के योजना
प्रजाति	-	मनुष्य, पशु-पक्षियों का वह समूह, जिसके सदस्यों की शारीरिक बनावट में समानता हो
बहुदेववाद	-	बहुत से देवी-देवताओं को मानने के विचारधारा
मातृसत्तात्मक	-	वह व्यवस्था जिसमें माता अवस्था गृहस्वामिनी की सत्ता ही सर्वोपरि हो
मृदभाण्ड	-	मिट्टी से बने बर्तन
विकेन्द्रीकरण	-	केन्द्रीय सत्ता एवं अधिकार को अधीनस्थ राज्यों में बांटना
संग्रहीत	-	एकत्रित किया हुआ, संग्रह किया हुआ
श्रमिक आवास	-	श्रमिकों के रहने का स्थान

7.17 संदर्भ ग्रन्थ

(1)	Wheeler	-	Indus Valley Civilization
(2)	Allchin	-	The Birth of Indian Civilization
(3)	Marshall	-	Mohenjo-Daro and Indus Civilization, Vol. 1
(4)	थापलिया	-	सिंधु सभ्यता
(5)	Rao, S.R.	-	Lothal and the Indus-Civilization
(6)	शास्त्री, केदारनाथ	-	सिंधु सभ्यता का आदि केंद्र हड़प्पा
(7)	काला, सतीशचन्द्र	-	सिंधु सभ्यता
(8)	बाजपेयी, कृष्णदत्त	-	प्राचीन भारत के विदेशों से सम्बन्ध
(9)	पाण्डेय, विमलचन्द्र	-	विश्व की सभ्यताएं ।

NOTES

NOTES

NOTES